Brown Colour Book

Drenched Book

सन्त साहित्य की भूमिका

लेखक :
श्री परशुराम चतुर्वेदी
एम्. ए., एल-एल. बी.

भूमिका लेखक :
डॉ० रामनिरंजन पाण्डेय
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय
हैदराबाद (आन्ध्र-प्रदेश)

दो शब्द

हिन्दी प्रचार सभा हैदराबाद की एक साहित्यिक शाखा 'कादम्बिनी' है। कादम्बिनी के अन्तर्गत प्रत्येक मास चुने हुए सदस्यों के सम्मुख किसी एक सदस्य द्वारा विचारात्मक साहित्यिक लेख का पाठ होता है तथा उस पर अन्य सदस्य रचनात्मक आलोचना एवं साहित्यिक चर्चा करते हैं। इस प्रकार साहित्य के प्रति रुचि, आलोचनात्मक दृष्टि एवं प्रेरणा जागृत करने का प्रयास किया जाता है।

वर्ष में एक बार किसी प्रतिष्ठित विद्वान को निमन्त्रित कर उनसे किसी निर्धारित विषय-विशेष पर एक लेखमाला का पाठ कराया जाता है। प्रस्तुत पुस्तक 'सन्त साहित्य की भूमिका' पं० परशुराम चतुर्वेदी जी की इसी प्रकार की लेखमाला है। उन लेखों का पाठ तीन बैठकों में क्रमशः डा० बाबूराम सक्सेना, अध्यक्ष संस्कृत विभाग तथा डीन फैकल्टी आफ आर्ट्स प्रयाग विश्वविद्यालय, माननीय विनायकराव जी विद्यामार्तण्ड, भूतपूर्व वित्तमन्त्री हैदराबाद राज्य तथा श्री लक्ष्मीनारायण जी गुप्त, स्वास्थ्य सचिव आन्ध्र-प्रदेश की अध्यक्षता में हुआ था।

मैं कादम्बिनी के सदस्यों की ओर से पं० परशुराम चतुर्वेदी, डा० वंशीधर जी विद्यामार्तण्ड, भूतपूर्व साहित्य मन्त्री, हिन्दी प्रचार सभा तथा डा० राजकिशोर जी पाण्डेय, शिक्षा मन्त्री, हिन्दी प्रचार सभा के प्रति आभार प्रदर्शित करना कर्तव्य समझता हूँ जिनके सहयोग से पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हुआ। डा० रामनिरंजन पाण्डेय, अध्यक्ष हिन्दी विभाग, उस्मानिया विश्वविद्यालय, ने प्रस्तावना लिखने की कृपा की है इसके लिये हम उन्हें कैसे भूल सकते। कादम्बिनी के सभी सदस्य भी धन्यवाद के पात्र हैं जिनके सहयोग से कादम्बिनी की योजना सफल होती है।

रामकुमार खण्डेलवाल
मन्त्री
कादम्बिनी

ग्रन्थावतारिका

सन्त-साहित्य उतना ही प्राचीन है जितनी प्राचीन मनुष्य के हृदय की उपासना-प्रवृत्ति है। 'सन्त' शब्द संस्कृत के 'सत्' शब्द से बना हुआ है। पुल्लिंग कर्ताकारक के एक वचन, द्विवचन और बहुवचनों में क्रम से इसके रूप सन्, सन्तौ और सन्तः बनते हैं। साधु और प्रशस्त अर्थ में भी सत् शब्द का प्रयोग होता है। इसी अर्थ में सत्पुरुष, प्रशंसनीय पुरुष और साधु पुरुष पर्यायवाची शब्द हैं। कालिदास के "तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्-व्यक्तिहेतवः। हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिःश्यामिकाऽपिवा"[1] में भी सत् और असत्, सत्य और असत्य का विवेक रखने वाले लोगों को ही संत माना गया है। इन सन्तों का स्वभाव, कालिदास के अनुसार अग्नि के समान होता है। अग्नि में तपा देने से सोने की शुद्धता और अशुद्धि का ज्ञान होता है। सन्त के भीतर रहने वाली विवेक की आग भी मनुष्य के स्वभाव की कालिमा और स्वच्छता को पहचान लेती है। इतना ही नहीं, जिस तरह आग में सुवर्ण की खराबी भस्म हो जाती है और वह स्वच्छ हो कर और अधिक चमकने लगता है उसी तरह सन्त के विवेकपूर्ण शील की आग में तप कर मनुष्य के कलुष नष्ट हो जाते हैं और उसकी मानवता प्रोज्ज्वल हो उठती है। कविकुल गुरु कालिदास ने सन्त के स्वभाव का यही चित्र अपनी प्रतिभा के पट पर अंकित किया था। यही चित्र सन्त-साहित्य के निर्माता सन्तों के शील का भी है।

सन्त-साहित्य के लक्षण वेदों में भी मिलते हैं। 'अग्निव्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि'[2] में व्रतपति अग्नि (ज्ञान) की उपासना करके असत्य से सत्य की ओर यात्रा की जा रही है। ज्ञान रूपी ब्रह्म की उपासना करके सन्त लोग भी असत्य से सत्य की

---

१. कालिदास-रघुवंश, सर्ग १। २. यजुर्वेद, प्रथम अध्याय, मन्त्र ५।

ओर गये। पूरे वैदिक साहित्य का नाम वेद (ज्ञान) रक्खा गया। इसका अर्थ यही होता है कि ज्ञानमय ब्रह्म की अनन्तोपासना ही वेदों में की गई है। उपनिषदों का पूरा साहित्य तो प्रत्यक्षतः श्रुति का ज्ञान-काण्ड है ही। उसके सन्त साहित्य होने में कैसे सन्देह किया जा सकता है। उन्हीं वेदों और उपनिषदों की साधना-परम्परा में हिन्दी के सन्त साहित्य का विकास हुआ। अखिल विश्व में एक ही अनन्त शक्ति का विस्तार देखने वाला, वेदों और उपनिषदों का दृष्टिकोण सन्तों ने भी अपनाया।

सन्त साहित्य में ज्ञान, योग और प्रेम का बड़ा सुन्दर समन्वय है। सन्त के हृदय में ज्ञान-प्रेमात्मिका भक्ति के भीतर योग का अपूर्व सम्मिश्रण, अनन्त सत्, अनन्त चित् तथा अनन्त आनन्द का सच्चिदानन्दरूपात्मक महामिलन स्थापित करता है। 'अब हरि है मैं नाहिं' में इसी ब्रह्मात्मक महामिलन का सन्देश है। ज्ञान अनन्त सत् है, योग अनन्त चित् है तथा प्रेम अनन्त आनन्द है। यही त्रितय ज्ञानी भक्त का ब्रह्मात्मक लय है। इसी की अनुभूति सब सन्तों को हुई थी।

ज्ञानयोगया-प्रेमात्मिका भक्ति का यह स्रोत वेद, उपनिषद् तथा पुराणों की परम्परा से होता हुआ सन्तों के हृदय में प्रवाहित होनेवाली भक्ति की मन्दाकिनी की धारा के रूप में दृष्टिगोचर हुआ। श्रीमद्भागवत में भगवान् कपिल ने अपनी माता देवहूति को इस भक्ति का उपदेश करते हुए कहा है—आध्यात्मिक योग को प्राप्त करके मनुष्य निःश्रेयस को प्राप्त कर लेता है। इस निःश्रेयस पद पर पहुँच कर वह दुःख और सुख से अत्यन्त विरक्त हो जाता है। आत्मा, चित्त के कारण ही बन्ध और मुक्ति प्राप्त करती है। त्रिगुणात्मक गुणों में आसक्त हो कर जब चित्त उनसे अनुराग करने लगता है तब आत्मा बद्ध हो जाती है।

चित्त जब 'मैं और मेरा' की आसक्ति से पूर्ण अभिमान को अपने भीतर स्थान दे देता है तब उसमें काम और लोभ इत्यादि के मल उत्पन्न हो जाते हैं। इस कलुष से जब चित्त विरक्त हो जाता है तब आत्मा मन के साथ शुद्ध हो कर सुखरहित दुःखमुक्त तथा समरस हो जाती है। इस

अवस्था को प्राप्त करके मनुष्य केवलानन्द की, निर्गुण विशुद्ध आनन्द की अनुभूति कर लेता है। उसकी यह आत्मस्थ दशा प्रकृति के प्रलोभनों के ऊपर उठ जाती है। ज्ञान की स्वयं प्रकाशित निरपेक्ष ज्योति अखण्ड रूप से उसमें निरन्तर आलोकित होने लगती है। आसक्तियों की स्थूलता से अप्रभावित इस सूक्ष्म, रहस्यमय आत्म ज्योति को ज्ञान वैराग्य और भक्ति से प्राप्त करके वह धन्य हो जाता है। प्रकृति के आकर्षणों की शक्ति उसके सम्मुख हततेज हो जाती है।

भगवान् कपिल ने माता देवहूति से कहा—अखिलात्मा भगवान् से जीवका सम्बन्ध स्थापित करनेवाली भक्ति के समान मंगलमय कोई दूसरा मार्ग नहीं है। इसी मार्ग से योगी भी ब्रह्मसिद्धि प्राप्त करते हैं। आसक्ति को मनीषियों ने आत्मा का बन्धन माना है। पर इसी आसक्ति को परमात्मा से जोड़ कर साधु पुरुष मोक्ष का उन्मुक्त द्वार बना लेते हैं। सब द्वन्द्वों को सहने की क्षमता रखनेवाले, करुणा-सागर, सब प्राणियों के मित्र, अजातशत्रु तथा शान्त स्वभाववाले साधु पुरुष मानवता के आभूषण हैं। जो लोग अनन्य भाव से मेरी दृढ़ भक्ति करते हैं, मेरे लिए स्वार्थ के सब कर्म तथा स्वजन और बान्धवों को छोड़ देते हैं, मेरी मधुर कथाएँ सुनते और सुनाते हैं, मुझमें अपने चित्त को लीन करके अपने शरीर को तपाते रहते हैं वे साधु लोग समग्र स्वार्थमयी आसक्तियों से मुक्त हो जाते हैं। वे स्वार्थमयी आसक्तियों के सब दोष हर लेते हैं। उन्हीं से प्रेम करना चाहिए। उन्हीं के साथ रहना चाहिए। उन्हीं की प्रार्थना करनी चाहिए। सज्जनों की सभाओं में मेरी शक्ति के ज्ञान को वितरण करनेवाली कथाएँ होती हैं जो हृदय और कानों के लिए रसायन का काम करती हैं। उस रसायन से शक्ति प्राप्त करके श्रद्धा और प्रेम से संवलित भक्ति अति शीघ्र अपवर्ग के पथ पर अग्रसर हो जाती है। भक्ति के द्वारा मनुष्य ऐन्द्रिय अनुभूतियों की स्वार्थमयी प्रवृत्तियों से विरक्त हो जाता है। वह मेरी सृष्टि की श्रुत और दृष्ट विचित्रता का मनन करते हुए चित्त की एकाग्रता को प्राप्त कर लेता है। योग प्राप्ति की इस अवस्था पर पहुँच कर सरल योग मार्गों से वह मुझे अधिक से

अधिक प्राप्त करने के प्रयत्न करता रहता है। ऐसा भक्त प्रकृति के गुणों का सेवन नहीं करता। ज्ञान, वैराग्य, योग तथा भक्ति के समस्त विकास से वह मुझ परमात्मा को अपने वश में कर लेता है।

भक्तों के अन्य लक्षणों को बतलाते हुए माता देवहूति से भगवान् कपिल ने कहा—दोषों के अभाव में देवताओं का स्वभाव केवल गुणमय ही होता है। आदर्श कर्मों में उनकी अनुरक्ति रहती है। उनके मन की स्वाभाविक वृत्ति केवल सत्त्वनिष्ठ ही रहती है। भक्त भी देव स्वभाववाला होता है। भागवती भक्ति निरपेक्ष, स्वार्थरहित तथा अनिमित्त होती है। भक्ति केवल भक्ति के लिए होती है, और किसी स्वार्थ के लिए नहीं। भागवती भक्ति की सिद्धि सब सिद्धियों से श्रेष्ठ होती है। वह सब पापों को इस प्रकार भस्म कर देती है, जिस तरह आग समग्र वस्तुओं को जला देती है। इस भागवती भक्ति की सिद्धि प्राप्त करने वाले भक्त अनेक प्रकार के होते हैं। कुछ भक्त मुझ से एकात्मता प्राप्त करके मुझ में लीन नहीं होना चाहते मेरे प्रति अनुराग रखने के कारण मेरे चरणों की सेवा में ही अभिरत रहते हैं। ऐसे भगवद्भक्त अपनी अनुरागभरी सभाओं में मेरे ही पौरुषों का, कीर्तन के द्वारा, आदरपूर्ण सम्मान करते हैं। वर प्रदान करने वाले मेरे दिव्य रूपों को, अरुण लोचन वाले मेरे आनन्दपूर्ण रमणीय मुखों को सन्त लोग देखते हैं और मेरे साथ मधुर वार्तालाप करते हैं। "पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि ॥ रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति"। मेरे दर्शनीय अंगों, अनंत शोभा से भरी हुई मेरी मन्द-मधुर-मुसकान, मेरे कृपापूर्ण कटाक्ष और मधुर वार्तालाप के माधुर्य में उनके प्राण और उनकी आत्मा खो जाती है। इस प्रकार उनके न चाहने पर भी मेरी भक्ति उन्हें मेरे रहस्यमय, निर्गुण, अणु और अगोचर पद से सम्बद्ध कर देती है।

भक्त की परमावस्था के सम्बन्ध में चर्चा करते हुए भगवान् कपिल ने देवहूति से कहा—मुझ मायापति की विभूतियों को मेरा भक्त प्राप्त कर लेता है। अणिमा, महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और

वशित्व की अष्ट सिद्धियों वाले मेरे अष्टांग ऐश्वर्य को प्राप्त करके वे मेरी ही अनन्त मंगलमयी तथा शक्तिमती शोभा से सम्पन्न हो जाते हैं। अपने इसी रूप में वे मेरे अनंत रूप के अनन्त वैकुण्ठ धाम में निवास करते हैं। उस लोक को प्राप्त करके, मुझ में लीन रहनेवाले मेरे भक्त कभी नष्ट नहीं होते। विकास की अन्तिम अनंतावस्था को प्राप्त करके वे देश और काल के चक्र से मुक्त हो जाते हैं। अव्याहत तथा सतत गति से चलने वाला, जगन्नियन्ता मेरा चक्र उन्हें स्पर्श नहीं करता। वे जगत् की सीमा के बाहर हो जाते हैं। ऐसे भक्तों का मैं ही प्रिय होता हूँ, मैं ही आत्मा होता हूँ, मुझे ही वे अपना पुत्र, सखा, गुरु, मित्र और इष्ट देवता मानते हैं। इस पृथ्वी लोक को, स्वर्ग लोकों को, दोनों के बीच में यात्रा करने वाले इस जीवको तथा धन, पशु, गृह इत्यादि समस्त वस्तुओं को त्याग कर वे मुझ अनन्त मुखवाले परमात्मा की ही अनन्य भक्ति करते हैं। ऐसे भक्तों को मैं मृत्यु के बन्धन से मुक्त कर देता हूँ।

परमात्मा की अनंत व्यापिनी शक्ति का, माता देवहूति को, परिचय देते हुए भगवान् कपिल ने कहा—प्रधान पुरुष, भगवान्, सर्वात्मा ईश्वर के आश्रय के बिना प्राणियों के तीव्र भय की निवृत्ति अन्यत्र कहीं नहीं होती। यह पवन मेरे ही भय से बहता रहता है, मेरे भय से सूर्य ठीक ठीक तपता है, इन्द्र मेरे ही भय से वर्षा का कार्य समुचित रूप से करता है, अग्नि में जलाने की शक्ति भी मेरे ही भय से बनी रहती है तथा मेरे ही भय से मृत्यु अपने कार्य से विरत नहीं होती। ज्ञानवैराग्ययुक्त भक्तियोग का सहारा ले कर मंगलमय जीवन की सिद्धि के लिए, योगी लोग अभय प्रदान करने वाले मेरे ही चरणों की छाया में आश्रय लेते हैं।

भक्ति के रहस्योपदेश का उपसंहार करते हुए भगवान् कपिल ने माता देवहूति से कहा—इस जगत् में मनुष्य को अपना अनन्त विकास इसी भक्ति के पथ पर चल कर प्राप्त होता है। यह चंचल मन उसे जगत् के द्वन्द्वों में भटका कर जलाता रहता है। ज्ञानवैराग्यपूर्ण अनुरागिणी भक्ति के सूत्र से यह मन मुझसे बाँध दिया जाता है। इस तीव्र भक्ति-योग के द्वारा

जगत् के प्रलोभनों के वन में भटकने वाला मन, जब मुझे अर्पित कर दिया जाता है, तब अपनी चंचलता खो कर वह स्थिर हो जाता है। उसकी अशांति शांति के रूप में परिवर्तित हो जाती है।[१]

श्रीमद्भागवत के द्वारा प्रवर्तित मधुरा भक्ति का यही स्वरूप है, जिसमें ज्ञान, वैराग्य, कर्म, योग तथा प्रेम, सब एक ही स्थान पर समन्वित हो गए हैं। प्रेम की यही धारा सन्तों की ज्ञानमधुर भक्ति-साधना के भीतर दृष्टि-गोचर होती है। अमृत की यह धारा अमर प्रेम के पावन-शीतल-मधुर जल को लेकर वेदों के युग से आज तक एकरस प्रवाहित हो रही है। गुरु अर्जुन-देव के "एक सुधाखरु जाकै हिरदै बसिआ तिनि बेदहि ततु पछानिया[२]" पलटू साहब के "गूँगे ने गुड़ खाइ लिया, जबान बिना क्या सिफत आनै[३]" धनी धरमदास के "अमृत बुन्द झरै घट भीतर साध-सन्तजन लासी[४]" पठान भक्त वाजिद जी के "कोयल सबद सुणाय रामरस लेत है![५]" कबीर के "कबीर हरिरस यौं पिया, बाकी रही न थाकि" या "रामरसाइन प्रेमरस, पीवत अधिक रसाल।[६]" में तथा ऋग्वेद के 'मधुवाताऽऋतायते मधु क्षरंति सिन्धवः। माध्वीर्नः सन्त्वोषधीः।", "मधु नक्तमुतोषसो मधु-मत्पार्थिवं रजः। मधु द्यौरस्तु नः पिता।" और "मधुमान्नो वनस्पतिर्मधुमाँऽ अस्तु सूर्यः। माध्वीर्गावो भवन्तु नः।[७]" में एक ही मधुमय अनन्त प्रेम का मधुर सन्देश प्रवाहित हो रहा है। यह धारा वेदों के अज्ञात युग से लेकर आज तक कहीं टूटी नहीं।

'सन्त और 'साधु' शब्द जो सन्तों को बहुत प्रिय हैं, वेदों के युग से आरंभ हो कर आज तक प्रचलित हैं। ऋग्वेद के "रथीतमं रथीनां वाजानां

---

१ श्रीमद्भागवत, स्कंद ३, अध्याय २५। २ सन्त सुधासार, वियोगी हरि, खंड १, पृष्ठ ३४५, पद ४। ३ वही, खंड २, पृष्ठ २४६, छन्द-४। ४ वही, खंड २, पृष्ठ ४ पद-१। ५ सन्त सुधासार, खंड १, पृष्ठ ५५५, छंद-२। ६ वही' पृष्ठ १२६, रस को अंग, छन्द १–२। ७ क्रम से ऋग्वेद १।६०।६, १।६०।७ और १।१०।८।

सत्पतिं पतिम् ॥[1]" में 'सत्पति' शब्द का अर्थ सज्जनों का पति या पालन करनेवाला है। इसी 'सत्' (सज्जन) शब्द से सन्त शब्द बना हुआ है। यजुर्वेद और शतपथ ब्राह्मण के "स नो विश्वानि हवनानि जोषद्विश्वशम्भूरवसे साधुकर्मा[2]" में 'साधु' शब्द अच्छाई का द्योतक है और 'साधुकर्मा' तो सन्त या साधु होता ही है। गीता के 'परित्राणाय साधूनाम्[3]' से भी सन्त और साधुपुरुष ही द्योतित होता है। श्रीमद्भागवत के "पश्यंति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नवक्त्रारुणलोचनानि[4]" में सन्त शब्द व्यवहृत हुआ ही है। अतः वैदिक काल से लेकर आज तक सन्त-वाणी की अमृतमयी धारा निरन्तर प्रवाहित होती चली आ रही है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के कृती लेखक सन्त स्वभाव के हैं, अतः यह ग्रन्थ उनके अनुभव, अध्यवसाय तथा उनकी परिष्कृत रुचि से प्रसूत हुआ है। सन्त साहित्य का जो परिचय इस ग्रन्थ में दिया गया है वह अन्यत्र एक स्थान में मिलना दुर्लभ है। संक्षेप में विषय का पूर्ण परिचय देने के बाद लेखक ने हिन्दी के सन्त साहित्य के निर्माण के युग की राजनीतिक, सामाजिक तथा धार्मिक परिस्थितियों का विवेचन करके बाद में उनका एक विशद सिंहावलोकन किया है। सन्त साहित्य की परम्परा की अन्तःप्रेरणा पर विचार करते हुए कृती लेखक ने (१) परम तत्त्व (२) जीवात्मा और जगत् (३) ब्रह्मानुभूति (४) सौंदर्य-बोध तथा सामाजिक व्यवस्था की बड़ी मार्मिक सैद्धान्तिक विवेचना की है। अन्तः प्रेरणा के उपक्रम में लेखक ने सन्तों के समग्र लक्ष्यों को संक्षेप में बड़ी कुशलता से एकत्रित कर दिया है। अन्तः प्रेरणा के साधनात्मक खंड में उसने वेदों से आरंभ करके हिन्दी के सन्त साहित्य के निकटतम पूर्वकाल तक की तमाम साधनाओं के प्रभावों की चर्चा करते हुए (१) विचार स्वातन्त्र्य, (२) भक्ति-भावना, (३) योग

---

१ ऋग्वेद १।१।११। २ यजुर्वेद, अध्याय ८, मंत्र ४५। और शतपथ ब्राह्मण ४।६।४।५। ३ गीता अध्याय ४, श्लोक ८। ४ श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ३, अध्याय २५ श्लोक ३५।

साधना तथा (४) प्रेममार्गी साधना का बड़ा विवेचनपूर्ण परिचय प्रस्तुत किया है। इस परिचय में बौद्ध, जैन तथा वैदिक साधनाएँ बड़े मार्मिक ढंग से विवेचित हुई हैं।

सन्त साहित्य के धार्मिक पक्ष का विवेचन करते हुए ईसा के पूर्व से लेकर मोहेंजोदड़ो इत्यादि स्थानों की सभ्यताओं के युगों से आरंभ होकर विकसित होने वाले समग्र शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन तथा वैष्णव भक्ति-सम्प्रदायों का बड़ा सुन्दर आलोचनात्मक विश्लेषण ऐतिहासिक क्रम में लेखक ने प्रस्तुत किया है। सन्तों की शब्द-साधना के साहित्यिक मूल्यों का अंकन भी इस ग्रंथ में बड़े कुशल और अधिकारपूर्ण ढंग से किया गया है।

सन्त-काव्य की विधाओं की चर्चा करते हुए श्री चतुर्वेदी जी ने (१) पद, (२) बाँवनी चौंतीसा आदि (३) अष्टपदी चौपदी, बारह पदी आदि (४) लोक-गीत (५) गोष्ठी, बोध, बण जारा, व्याहलो, स्तुति, आरती तथा सहस्रनाम आदि (६) रमैणी (७) साखी (८) अरिल्ल आदि (६) फ़ारसी बहर तथा प्रबन्ध काव्य पर रचना-सिद्धान्त और विनियोग की बड़ी सुन्दर तथा आलोचनात्मक जानकारी दी है। साहित्य के मंगल, उलटबाँस तथा गद्य-रूप का भी बड़ा प्रशस्त विवेचन चतुर्वेदी जी के इस ग्रन्थ में मिलेगा। इस ग्रन्थ का उपसंहार भी, एक स्वतन्त्र लेख की तरह, ग्रन्थ में बिखरे हुए समग्र ज्ञान-प्रकाश को एक केन्द्र में केन्द्रित कर देता है। यह अंश भी परम पठनीय है। लेखक के प्रति मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

'कादम्बिनी' के संचालकों ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की भूमिका लिखने की मेरी अत्यल्प योग्यता पर विश्वास कर लिया, इसे भी मैं अपना परम सौभाग्य मानता हूँ।

श्रावण शुक्ला सप्तमी
सं० २०१७

—रामनिरंजन

संत-साहित्य की भूमिका

(१) विषय प्रवेश ।

हिन्दी वाङ्मय के इतिहास में उसका संत-साहित्य अपना एक विशेष महत्व रखता है और यह उसकी सरिता का वह प्रमुख मूल स्रोत है जो उसके आदिकालीन अपभ्रंश रूप से ही निरन्तर प्रवाहित होता आया है । इसे, यदि हम चाहें तो, उसकी अन्य अनेक धाराओं से पृथक् करके भी देख सकते हैं जिस दशा में हमें उसकी कई बातों में एक अनोखापन दीख पड़ेगा। इसमें हमें न तो किसी व्यक्ति विशेष के ऐश्वर्य वा शौर्यादि की वह प्रशंसात्मक चर्चा मिलेगी जो हिन्दी साहित्य की वीर गाथाओं में पाई जाती है और न इसमें वैसे श्रृङ्गारिक प्रसंगों के सरस वर्णन ही मिलेंगे जो प्रायः कला-प्रदर्शन के साथ भी चला करते हैं । इसके अन्तर्गत वैसा भक्ति-काव्य भी नहीं आता जो किसी इष्ट देव के श्रद्धापूर्ण चरित्र-कथन अथवा लीला-गान से सम्बन्ध रखता है और न इसमें किसी ऐसी प्रेम-गाथा का ही समावेश होगा जिसमें 'इश्क़-मजाज़ी' के उदाहरण द्वारा 'इश्क़ हक़ीक़ी' की प्रतिष्ठा की गई रहती है । इसके सर्व प्रधान विषयों में या तो कतिपय सन्तों द्वारा, किसी अनिर्वचनीय सत्ता के प्रति व्यक्त किए गए विशुद्ध आत्मनिवेदन के शब्द मिलेंगे अथवा उनके वे निजी उद्गार होंगे जो उनके अपने आध्यात्मिक जीवन की गहरी अनुभूतियों पर आश्रित हैं और जिनमें निहित सत्य को शाश्वत एवं विश्व-जनीन मानते हुए, वे उन्हें दूसरों के हितार्थ भी प्रकट करना चाहते हैं।

यह संत-साहित्य न केवल समय की दृष्टि से दीर्घ-कालीन है, अपितु यह अपने प्रचार क्षेत्र के अनुसार, बहुत व्यापक भी है । इसके रचयिताओं में यदि दक्षिण के महाराष्ट्रीय संत नामदेव का नाम लिया जाता है तो दूसरी ओर उत्तर के गुरु नानकदेव तथा लालदेव तक की गणना की जाती है और इसी प्रकार, इसमें पश्चिम के प्राणनाथ एवं पूर्व के जयदेव की भी रचनाएँ

सम्मिलित हैं। तदनुसार पंढरपुर से ले कर पुरी तक तथा कश्मीर से काठियावाड़ तक की विस्तृत सीमा के निवासियों ने इसके निर्माण में न्यूनाधिक हाथ बँटाया है और इसका प्रचार करके, इसकी लोक-प्रियता में वृद्धि की है। इस विस्तार के कारण कोई कठिनाई नहीं आ सकी है और न इसकी विविध बानियों में कोई मौलिक अन्तर ही आ पाया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की कोटियों में स्पष्ट रूप से गिने जानेवाले लोगों से लेकर भट्ट, कायस्थ, जाट, कुनबी, नाई, छीपी, दर्जी, धुनिया, जुलाहा, कोरी, कसाई, मोची, मीरासी, पठान व भंगी जैसी विभिन्न जातियों के सदस्यों ने भी इसके लिए अपनी-अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं और उनकी बोलियों के कभी-कभी मराठी, गुजराती, उड़िया, कश्मीरी व पंजाबी से ले कर लहंदी, नीमाड़ी, जयपुरी, मगही, मेवाती वा भोजपुरी जैसी होने पर भी, उनकी पंक्तियों के वास्तविक उद्देश्य में कोई अन्तर नहीं लक्षित होता और न उनकी कथन-शैली में ही कोई भिन्नता दीख पड़ती है।

इसके सिवाय सन्त-साहित्य के निर्माताओं पर, उनके द्वारा पहले से अपनाए गए धर्मों वा सम्प्रदायों का भी, कोई वैसा प्रभाव नहीं जान पड़ता जिसके कारण इसका वर्ण्य विषय किंचित् विकृत वा विद्रूप बन गया हो। वे चाहे बौद्ध रहे हों चाहे जैनी हों, चाहे नाथ-पन्थी रहे हों, चाहे सूफ़ी हों अथवा चाहे वैष्णव रहे हों वा शैव हों, उन्होंने इसके अनुकूल मत को सदा पूरे बल के साथ प्रकट किया है और ऐसा करते समय उन्होंने इस बात का भी ध्यान रखा है कि केवल तथ्य को ही महत्व दें और व्यर्थ के वाह्याडम्बर का पूर्ण बहिष्कार करें। वे साधारण जनता के स्तर से और विशेष कर उन्हीं की सुबोध शैली में भी, अपना कथन करना चाहते हैं, किन्तु फिर भी वे किसी प्रकार की रूढ़ि-प्रियता अथवा शास्त्रीयता का आश्रय ग्रहण करना नहीं चाहते। वे कथनी एवं करनी के सामंजस्य को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं और हमारे सामने एक ऐसे मानव जीवन का आदर्श रखना चाहते हैं जो, यथासम्भव, सर्वदेशीय तथा सर्वकालीन हो और जो, इसी कारण, सभी के लिए एक समान उपयुक्त भी ठहर सके। उनके सिद्धान्तों में दार्शनिक

दृष्टि से मतभेद हो सकता है तथा उनके द्वारा स्वीकृत साधनाओं का भी ठीक एक ही समान होना उतना आवश्यक नहीं, किन्तु, जहाँ तक उनकी बानियों के विषय के विशुद्ध जीवन-परक होने से सम्बन्ध है, उनमें किसी प्रकार के मतभेद का आ जाना सम्भव नहीं है। अन्तिम लक्ष्य, उदार दृष्टिकोण, सार्वभौम विचार एवं तदनुसार सात्विक आचरण पर अधिक से अधिक बल देने में वे प्रायः एक ही समान कभी चूकते नहीं जान पड़ते।

इस प्रकार के सन्त-साहित्य में भाषा की कोई सजावट नहीं दीखती और न इसी से उसमें समुचित शब्द-विन्यास, सुव्यवस्थित वाक्य-रचना अथवा सुन्दर अलंकार-विधान की ओर उन्मुख किसी प्रयास का ही पता चलता है। अपने अनगढ़ शब्द, अधूरे वाक्य तथा ऊटपटांग वर्णन-शैली के ही कारण, इसकी रचनाएँ बहुधा 'अटपटी बानियाँ' कहलाती हैं, तथा उसकी भाषा के लिए कभी कभी 'सधुक्कडी' जैसे विशेषणों का प्रयोग हुआ करता है। इसके पद्यों की छन्दो योजना में भी कोई सावधानी बरती गई नहीं पाई जाती और उनकी पंक्तियों में व्याकरण के प्रति उपेक्षा भी दीख पड़ती है जिसका वास्तविक कारण प्रायः उनके कवियों का अशिक्षित होना मान लिया जाता है। फिर भी इस साहित्य के एक बृहत् अंश में किसी अक्खड़पन का ओज है, स्पष्टवादिता की चुनौती है और ऐसे तीखे व्यंगों की बौछार भी है जो सदा सीधी और अचूक चोट कर जाती है। इसके सिवाय कभी कभी इसमें कठिन से कठिन विषयों की भी चर्चा, एक विचित्र अल्हड़पन की शैली में, की गई मिलती है और गम्भीर से गम्भीर भावों का सरल उद्घाटन भी मिल जाता है, किन्तु, इसके साथ ही, यहाँ उन भूल-भूलैयाँ वाली पंक्तियों की भी कमी नहीं जो उल्टबासियों के नाम से प्रसिद्ध हैं, और जिनके भावों का समझ पाना प्रायः टेढ़ी खीर बन जाता है।

इसमें सन्देह नहीं कि सन्त साहित्य अपने इतिहास के उक्त लम्बे काल में कुछ न कुछ परिवर्त्तित एवं विकसित भी होता रहा है। इसका जो रूप अपने प्रारंभिक दिनों में था ठीक वही, विक्रम की १४ वीं शताब्दी के पीछे भी, नहीं रह गया और न यही, स्थूलतः उसकी १६ वीं वा विशेषतः १७ वीं

शताब्दी के अनन्तर, अपनी विशेषताओं तक सीमित रह सका। इसी प्रकार इसमें फिर एक बार, उसकी १६ वीं शताब्दी से भी, कतिपय नवीन प्रवृत्तियाँ दीख पड़ने लगीं जिनका क्रम अभी आज तक ज़ारी है। इन प्रवृत्तियों के साथ-साथ इसके बाहरी रूप-रंग में भी कुछ-न-कुछ अन्तर आता गया है और, पदों एवं साखियों के अतिरिक्त इसमें कवित्तों, सवैयों, प्रेमगाथाओं तथा गद्य रचनाओं का भी समावेश हो गया है। इसके सिवाय, यदि हम इस साहित्य पर एक अन्य ढंग से विचार करें तो, प्रतीत होगा कि इसका, कुछ विशेषताओं के अनुसार विभाजन भी किया जा सकता है और उस दशा में, हमें इसके निर्माताओं की विभिन्न व्यक्तिगत साधनाओं का भी पता चल सकेगा। इसके कुछ अंश को यदि हम विशेष रूप से ज्ञान मार्ग की ओर अधिक झुका हुआ कहेंगे तो, उसी प्रकार कुछ अन्य को भक्तिमार्ग द्वारा अधिक प्रभावित पाएँगे और फिर यदि कुछ में हमें योगपरक बातों की विशेषता लक्षित होगी तो दूसरे पर प्रेम-साधना का अधिक रंग चढ़ा जान पड़ेगा फिर भी यह नहीं कि हम इनमें शेष बातों की चर्चा न पा सकें तथा इनका रूप केवल एकपक्षीय ही रह जाय। वास्तव में संतों की बानियाँ अपने प्रमुख मार्ग से विचलित होना नहीं चाहतीं और इन जैसी विभाजक रेखाएँ केवल उनकी प्रासंगिक बातों को ही छू पाती हैं।

संत-साहित्य के उपर्युक्त संक्षिप्त परिचय से भी पता चल सकता है कि इसकी कतिपय विषयगत विशेषताएँ हैं तथा इसकी अपनी कोई निजी कथन-शैली भी है और इन्हीं के कारण इसे हिन्दी-साहित्य के अन्य अंगों से पृथक् भी समझा जाता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या ये दोनों बातें सर्वथा नवीन हैं और इनकी कोई पूर्वागत परम्परा नहीं है? क्या ये इसमें आपसे आप आ गई हैं और ये केवल उन कवियों की व्यक्तिगत प्रवृत्तियों पर ही आश्रित हैं जिन्होंने सर्वप्रथम इसका सूत्रपात किया था? अथवा क्या हम इन्हें केवल उस युग की ही देन कह सकते हैं जब इसका प्रारंभ हुआ था और इसका पूर्व काल के साथ कुछ भी लगाव नहीं है? इन तथा अन्य ऐसे अनेक प्रश्नों का उत्तर देने के लिए हमें इतिहास के अति प्राचीन युगों तक

पर दृष्टि डालनी पड़ सकती है और, इसकी व्यापक पृष्ठभूमि का समुचित विश्लेषण करके, हम इस निर्णय पर भी पहुँच सकते हैं कि इसके युग वाले राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रभावों ने भी इसके विकास में किस मात्रा तक योग दिया था अथवा उनके द्वारा इसके किस अंग को किस प्रकार कितना बल मिला था। उस दशा में ही पूरा पता चल सकता है कि इसका उदय क्यों हुआ? क्रमिक विकास किस प्रकार होता गया तथा इसके विविध अंगों का समावेश भी क्यों, कब और कैसे होता चला आया। सारांश यह कि, संत-साहित्य के रहस्य को समुचित रूप से समझने का कोई प्रयत्न करने के पहले, उसकी रचना एवं विकास के युग तथा उसके विविध अंगों की पूर्वागत परम्परा का अध्ययन कर लेना भी परमावश्यक है क्योंकि इसके द्वारा उसकी अनेक बातों के स्पष्टीकरण में सहायता मिलेगी।

(२) युगीन पृष्ठभूमि-क-राजनीतिक

संत-साहित्य की रचनाओं का आरंभ संत जयदेव के उपलब्ध पदों के समय से माना जाता है जो अभी तक प्रसिद्ध 'गीत गोविंद' कार भक्त जयदेव से अभिन्न समझे जाते हैं और जिनका आविर्भाव काल विक्रम की १३ वीं शताब्दी बतलाया गया है। उस समय के बहुत पहले से ही भारतीय इतिहास के मध्य युग का आरंभ हो चुका था और उसके विशिष्ट लक्षण अधिकाधिक स्पष्ट होते जा रहे थे। प्राचीन युग के अंतिम सम्राट् कहे जाने वाले हर्षवर्धन की मृत्यु सं० ७०५ में हुई थी जिसके अनंतर प्रायः सर्वत्र उथल-पुथल मचती आ रही थी और, इसके कारण सब कहीं विशृंखलता और अराजकता का ही बोलबाला दीख पड़ता था। कश्मीर से ले कर दक्षिण भारत तक की ओर के अनेक राजवंश उस समय अपना-अपना राज्य-विस्तार करने में प्रयत्नशील थे। सम्राट् हर्षवर्धन की राजधानी पर अपना अधिकार जमा कर उसके साम्राज्य का शासक बन जाने की पारस्परिक स्पर्धा ने पहले पालवंशी तथा राष्ट्रकूट वंशवाले राजाओं को उभाड़ा जिन्होंने क्रमशः पूर्व एवं दक्षिण

की ओर से कई बार आक्रमण किये, किन्तु विजयलक्ष्मी, अन्त में, पश्चिम के गुजरात-मालवावाले प्रतिहारों के ही हाथ लगी जिन्होंने एक तीसरी ओर से आ कर उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। कहा जाता है कि इसके पहले कश्मीर के ललितादित्य ने भी कन्नौज के राजा यशोवर्मन को हरा दिया था, किन्तु उसका परिणाम स्थायी न हो सका था।

कन्नौज की राजधानी पर प्रतिहार वंश के शासक लगभग दो सौ वर्षों तक अबाधित रूप में जमे रहे। बारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में, उनकी निर्बलता से लाभ उठा कर, गहड़वाल वंश के चन्द्रदेव ने वहाँ अपना आधिपत्य कायम किया। उन दिनों मध्य भारत की ओर चंदेलवंश तथा कलचुरी वंश के लोगों का शासन था जिनमें से दूसरे के गांगेयदेव ने काशी ले कर उत्कल प्रदेश तक पर आक्रमण किये। उधर राष्ट्रकूट वंश के अनंतर अधिक दक्षिण-पश्चिम की ओर, वरंगल में काकतीय, देवगिरि में यादव तथा द्वार-समुद्र में होयसला प्रतिष्ठित हुए। इनमें से देवगिरि के यादवों के ही शासन-काल में नामदेव तथा ज्ञानेश्वर जैसे अनेक महाराष्ट्रीय सन्तों का भी आविर्भाव हुआ। इसके पहले ११ वीं शताब्दी में मालवे का परमारवंशीय राजा वाक्पतिराज भी अनेक राजाओं को हरा कर विजेता बना था, किन्तु अन्त में चालुक्य वंशीय राजा तैलप द्वारा परास्त होकर उसको बंदी बनाया गया तथा मार डाला गया। मालवे का परमार वंश फिर इसके अनंतर भी कुछ दिनों तक सिद्ध राज एवं भोजदेव जैसे राजाओं के कारण, प्रसिद्ध रहा किन्तु १२ वीं शताब्दी के अन्त इसका फिर चालुक्य वंशीय राजाओं द्वारा ही अन्त हो गया। इन चालुक्य वंशीय राजाओं का शासन गुजरात एवं काठियावाड़ तक के क्षेत्र पर रहा, किन्तु १३ वीं शताब्दी का आरंभ होने तक ये भी निर्बल पड़ गए। इसी प्रकार राजस्थान के चौहान वंश एवं दिल्ली के तोमर वंश की कहानियों की भी संक्षिप्त चर्चा की जा सकती है।

१३ वीं शताब्दी तक की राजनीतिक परिस्थिति का चित्रण केवल इन हिन्दू राजवंशों के पारस्परिक संघर्षों तक ही सीमित नहीं रखा जा सकता। उस समय से लगभग ६ सौ वर्ष पहले से अरबों का जहाजी बेड़ा बम्बई के

निकटवर्त्ती 'थाना' के आस-पास आक्रमण करने लगा था। मुहम्मद बिन कासिम ने फिर सं. ७६६ में सिंध पर धावा किया और तब से मुसल्मानों की चढ़ाइयाँ प्रायः निरन्तर होती रह गईं। परन्तु कभी ऐसा अवसर न आया कि आस-पास के सभी राजवंश अपने आपसी झगड़े भूल कर उनकी बाढ़ को एक साथ रोकें। फलतः सं० १०८३ तक पंजाब एवं सिंध पर मुसल्मानों का पूर्ण अधिकार हो गया और, अन्त में, सं० १२६३ तक कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली का स्थायी शासक बन बैठा। ये पश्चिम अथवा पश्चिमोत्तर से भारत में प्रवेश करनेवाले मुस्लिम केवल द्रव्य लूटने के प्रलोभन अथवा धर्म प्रचार के उद्देश्य से ही नहीं आए थे, प्रत्युत हिन्दू राजवंशों के पारस्परिक वैमनस्य तथा उपर्युक्त विनाशकारी संघर्ष के समाचारों ने उन्हें अपना आधिपत्य जमाने का प्रोत्साहन भी दिया था और इस प्रकार वे क्रमशः आगे ही बढ़ते चले गए। मूलतः जिस समय इधर ऐबक, पश्चिम के राजाओं से ही निबट रहा था उसके एक सेनानायक बख़्तियार ने आगे बढ़ कर बंगाल पर आक्रमण कर दिया और गौडेश्वर लक्ष्मण सेन के ऊपर आतंक जमा कर उस ओर भी मुस्लिम प्रभाव की वृद्धि का सूत्रपात कर दिया। इस राजा लक्ष्मण सेन के ही आश्रित कवियों में भक्त जयदेव की गणना की जाती है जिन्हें, उपलब्ध संत-साहित्य के आधार पर, उसका प्रथम कवि होना स्वीकार किया जाता है।

इस युग के हिन्दू विजेताओं की यह एक विशेषता रही कि वे अपने विजित प्रदेशों को पददलित कर देने की अपेक्षा वहाँ के शासकों द्वारा अपना आधिपत्य स्वीकार कर लिये जाने को ही पर्याप्त मान लेते थे। परन्तु मुस्लिम विजेता केवल इतने से ही संतुष्ट न था। वह बहुधा, इसके साथ ही, वहाँ अपने राज्य की स्थापना में भी लग जाता था। अतएव इस युग के आरंभ में जहाँ पहले बहुत से राज्यों का पृथक् रह कर आपस में लड़ते-भिड़ते रहना भी सम्भव था वहाँ पीछे इस नियम में बहुत कुछ परिवर्तन हो गया। फिर भी प्रत्येक हिन्दू राजा अपने अधीनस्थ देशों की भीतरी शांति के साथ-साथ उनके निवासियों की पूर्वप्रचलित परम्पराओं तथा उनकी मर्यादाओं की रक्षा पर भी ध्यान दिया करता था जिस कारण जनता की धार्मिक अथवा सांस्कृतिक

व्यवस्था में कोई क्रांति न आ सकती थी। परन्तु मुस्लिम सुलतानों की मनोवृत्ति के अनुसार इस प्रकार का शासन-कार्य कदाचित् अधूरा ही कहा जा सकता था। इसलिए वे अपनी हिन्दू प्रजा का किसी-न-किसी प्रकार धर्म परिवर्तन कर उसे किसी विशाल मुस्लिम भ्रातृसंघ का सदस्य बना लेना भी अपना पुनीत कर्त्तव्य समझने लगे जिसका एक बहुत बड़ा परिणाम सर्व-साधारण की मनस्थिति के उभड़ने में भी दीख पड़ा। इस प्रकार हिन्दू राजाओं के राजतंत्र में जहाँ विकेन्द्रीकरण के दूषित प्रभावों का कुछ फल देखने को मिला वहाँ मुस्लिम शासकों की सल्तनत की केन्द्रीकरण वाली मनोवृत्ति का भी एक नवीन ढंग का परिणाम सामने आया।

ख. सामाजिक

पारस्परिक वैमनस्य एवं संघर्ष के कारण पृथक् पृथक् बनती रहनेवाली राजनीतिक इकाइयों की प्रवृत्ति हिन्दू-समाज में भी लक्षित हुई। वर्ण-व्यवस्था की जो प्रथा पहले से ही प्रचलित थी उसे परिस्थिति के अनुसार और भी उत्तेजना मिली और क्रमशः विकेंद्रीकरण आरम्भ हुआ। मुस्लिम-संपर्क में आ जाने पर, अपनी पूर्वस्थिति संभालने के प्रयत्न में, उस काल के स्मृति-कारों ने विभिन्न व्यवस्थाओं का देना आरम्भ कर दिया। वर्ण की भावना में परिवर्तन आ गया और वह जाति की भावना द्वारा अधिकाधिक प्रभावित होती चली गई। वर्णों के जन्म मूलक बन जाने के कारण, उसके पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर, अनेक विचित्र जातियों की कल्पना की जाने लगी और इनकी संख्या बढ़ती चली गई। इस प्रकार सामाजिक संकीर्णता एवं जटिलता का भाव इतना प्रबल होता गया कि हिन्दू समाज क्रमशः जातियों का एक समूह मात्र बन गया। इनमें कुछ तो अपने को, रक्त शुद्धि की दृष्टि से, उच्च और विशुद्ध मानने लगीं और अन्य, उसके अभाव में, उनके प्रति ईर्ष्यालु बनती गईं। वर्ण-संकरता को समाज के लिए घोर अभिशाप घोषित कर दिया गया जिस कारण आपस में स्पृश्यास्पृश्य की भावना भी

काम करने लग गई और कतिपय जातियों को ऊँच तथा अन्य को नीच समझा जाने लगा। स्मृतिकारों ने इन विभिन्न जातियों अथवा उपजातियों के लिए पृथक् पृथक् व्यवस्थाएँ देना आरम्भ किया जिनमें, उनकी प्रवृत्तियों के अनुसार, बहुत कुछ अन्तर भी आ गया।

उपजातियों के निर्माण का एक अन्य कारण उस काल की विभिन्न जीविकाओं के रूप में भी काम कर रहा था। जीविकाओं के अनुसार समाज के अंग विशेष को किसी पृथक् नाम से अभिहित करने की प्रथा नई नहीं थी। किन्तु पहले के युगों में इसका प्रभाव मूल समाज को विशृंखलित नहीं कर पाता था और न इसी कारण इसे उतना महत्व दिया जा सकता था। भिन्न-भिन्न उपजातियों के लिए समाज के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न स्थान कल्पित करने की उपर्युक्त भावना ने इस काल में जीविकाओं के कारण बनी जातियों के सम्बन्ध में भी, प्रायः उसी प्रकार के प्रश्नों को प्रश्रय दिया और इसका भी परिणाम ठीक उसी प्रकार का रहा। जिन जातियों की जीविका को निम्न स्तर का माना गया उन्हें अस्पृश्य तक बना दिया गया और वे मूल समाज से बहिष्कृत से जान पड़ने लगे। इसका एक महत्वपूर्ण परिणाम यह भी हुआ कि हिन्दू समाज की दृष्टि से विभिन्न जीविकाओं के भी अनेक स्तर बनते चले गए और उनमें से किसी एक का अपनाना उसके स्तर के अनुसार ही भला या बुरा कहलाने लग गया। फलतः जीविकाएँ अधिकतर वंशानुक्रम से ही स्वीकार की जाने लगीं और इस प्रकार किसी एक धंधे में लगे मनुष्य के लिए दूसरे का द्वार सर्वथा बंद-सा हो गया। प्रत्येक जाति अथवा उपजाति अपने को एक विशिष्ट वर्ग का अंग समझा करती थी और उनकी एकता की सम्भावना कम होती जा रही थी।

भारतीय व्यापार की दृष्टि से वह काल बहुधा स्वर्ण युग कहा जाता है। यहाँ की निर्मित वस्तुएँ तथा अन्य प्रकार के उपयोगी पदार्थ स्थलमार्ग से एवं जलमार्ग से भी सुदूर देशों तक पहुँचाए जाते थे और उधर से उनके बदले में द्रव्यादि मिल जाया करते थे। व्यापार की वृद्धि के ही कारण अरब, यूनान, चीन जैसे अनेक देशों के साथ भारत का सम्बन्ध क्रमशः अधिक

गहरा होता जा रहा था और भारतीयों ने प्रधानतः उसी के आधार पर बहुत-से द्वीपों में जा कर 'वृहत्तर भारत' का निर्माण भी किया था। देश के भीतर बसने वाले लोगों की आर्थिक दशा भी बहुत अच्छी थी और भारत अपने वैभव की विशालता के लिए ख्याति प्राप्त कर चुका था। साधारण जनता या तो कृषि-कार्य करती थी अथवा कपड़ों तथा विविध भोज्य पदार्थों को तैयार करने में लगी रहती थी। धनवृद्धि के कारण ललित कलाओं की उन्नति हो रही थी और स्थापत्य एवं मूर्त्ति कलाओं को भी विशेष प्रोत्साहन मिल रहा था। अतएव हिन्दुओं की बहुत-सी जातियों का जन्म न केवल वाणिज्य-व्यापार के आधार पर हुआ, अपितु उनके कलाकार, कारीगर अथवा श्रमिक हो जाने पर भी अस्तित्व में आ गया और इनके सम्बन्ध में भी विभिन्न स्तरों की कल्पना प्रायः उपर्युक्त ढंग से ही की गई। यहाँ पर धनी एवं निर्धन तथा स्वामी एवं श्रमिक के बीच भी भेदभाव खड़ा हो गया जो उपर्युक्त रक्त-शुद्धि वा जीविकावाले जातिभेद के प्रश्नों से कम भयंकर न था।

कहा जा सकता है कि राजनीतिक जीवन की बहुत-सी त्रुटियों का परिमार्जन उस युग की पंचायत-प्रथा के कारण हो जाता था। गाँवों में प्रायः सर्वत्र साधारण जनता पंचायतों का संगठन करके उनके द्वारा पारस्परिक वैमनस्य अथवा संघर्ष के विष का प्रभाव बहुत कम कर लेती थी और ऊपरी स्तर की कलुषता वहाँ तक पहुँच नहीं पाती थी। कुछ लोगों की यह भी धारणा है कि यह कार्य बहुधा नगरों में संगठित व्यापारिक श्रेणियों अथवा संघों द्वारा भी सम्पन्न हो जाता था। इनके श्रेष्ठी वा सार्थवाह अपने व्याव-सायिक संघों का समुचित प्रबन्ध कर लेते थे और पारस्परिक सहयोग की भावना भी अक्षुण्ण बनी रह जाती थी। परन्तु इस सम्बन्ध में यह भी कम उल्लेखनीय बात नहीं कि मुस्लिम जाति का आक्रमण आरम्भ हो जाने पर उसका इस ओर भी बहुत प्रभाव पड़ा। आतंक अथवा प्रलोभन के आधार पर कभी-कभी किसी गाँव के समूचे कुटुम्ब अथवा जाति का धर्म परिवर्तन हो जाने पर वहाँ की जनता के बीच स्पष्टतः दो भिन्न-भिन्न दलों की सृष्टि हो जाया करती थी जो आपस में एक दूसरे को विधर्मी समझने लग जाते थे।

फलतः पंचायतों का जम कर काम करना ऐसी दशा में असम्भव बन जात था। इसके सिवाय मुस्लिम शासकों का प्रायः ऐसा भी प्रयत्न होता रहता था कि श्रेणियों तथा संघों के संचालकों को अपनी ओर खींच लें। ऐसे लोग जो वाणिज्य-व्यापार के कारण समृद्धिशाली बन जाने पर भी अपनी जाति का हीन समझा जाता रहना बुरा मानते थे उनके लिए धर्म परिवर्तन को वरदान के रूप में स्वीकार कर लेना असम्भव नहीं था—और विशेषकर उस दशा में जब ऊँच एवं नीच जातियों के बीच की खाई निरन्तर अधिक चौड़ी ही होती जा रही थी।

ग—धार्मिक

धार्मिक दृष्टि से उन दिनों शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, नाथ पंथी, बौद्ध एवं जैन वर्गों का प्रभाव विशेष रूप से दीख पड़ता था। इनके भी प्रायः बहुत-से सम्प्रदाय अथवा उपसम्प्रदाय बनते गए थे जिनका पारस्परिक मतभेद उन्हें एक दूसरे से पृथक् रहने की ओर प्रवृत्त करता था और उनकी साधना एवं वाह्याचार की विभिन्नता के कारण बहुधा आपस में संघर्ष तक हो जाया करता था। इसके सिवाय तांत्रिक प्रभाव के क्रमशः बढ़ते जाने के कारण उनके बहुत-से समाजों में वाह्याडंबर एवं भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति बढ़ गई थी। शैव समाज में जहाँ पाशुपत कापालिक और अघोर पंथ को प्रश्रय मिल रहा था वहाँ शाक्त सम्प्रदाय में आनन्द भैरवी, भैरवीचक्र, सिद्धिमार्ग जैसे गुप्तपंथों की सृष्टि हो गई थी और वैष्णवों तक में भी अन्तरंग समाज बनते जा रहे थे। इसलिए हिन्दू साधनाओं का वाम-मार्ग एवं दक्षिण-मार्ग नाम से दो प्रकार का विभाजन हो गया था और इनमें से प्रथम गुप्त एवं अनैतिक बातों में भी प्रवृत्त था। फलतः हिन्दू धर्म में सुधार करने के प्रयत्न भी होने लग गए थे और शङ्कर, रामानुज, निम्बार्क, मध्व जैसे महापुरुषों ने इसके लिए नवीन आंदोलनों की सृष्टि कर उसमें नवजीवन लाने की सफल चेष्टाएँ कीं। इन्होंने विविध ग्रन्थों एवं भाष्यों के निर्माण, प्रचारक दलों के संगठन तथा उपदेशों द्वारा हिन्दू धार्मिक समाज में नवचेतना जागृत की जिस कारण वह किसी

प्रकार जीवित रह सका।

उन दिनों बौद्ध धर्म भी बहुत-से उपसम्प्रदायों में विभाजित हो गया था जिनमें वाह्याडंबर एवं गुप्त साधनाओं का प्रचार था। इनके गुप्त समाजों का प्रवेश उनके विहारों एवं संघारामों तक में हो गया था और अनेक विचित्र यानों की भी सृष्टि हो गई थी। इनमें धर्म के नाम पर विलासिता और अनैतिकता खुले रूप में प्रचलित हो गई थी और इसके कारण बौद्ध धर्म का पतन बड़े वेग से हो रहा था। बौद्ध धर्म के ह्रास में हिंदू धर्म के उपर्युक्त सुधारकों का भी कम हाथ न रहा और ऐसे सभी कारणों ने मिल कर उसका अन्त कर दिया। जैन धर्म के अनुयायियों में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति नहीं थी और न उनके भीतर गुप्त समाज ही काम करते थे। उनके कठोर आचार-विचार तथा उदासीनता की प्रवृत्ति ने उक्त प्रकार के अनाचारों का प्रवेश नहीं होने दिया। किन्तु उनकी पूजा पद्धति का वाह्य विस्तार तथा उनमें क्रमशः प्रवेश करते गए अन्धविश्वास ने उन्हें भी अपने पूर्वकालीन उच्चस्तर से नीचे ला दिया था। उनमें भी केवल साधारण मतभेदों के आधार पर विविध सम्प्रदायों की सृष्टि होने लग गई थी और वे क्रमशः उत्तर से दक्षिण की ओर खिसकते जा रहे थे जहाँ उनका शैवों तथा वैष्णवों के सुधार परक आंदोलनों से संघर्ष भी होता जा रहा था। जैन धर्म को उनसे अपनी रक्षा करने के लिए ब्राह्मण धर्म की अनेक बातों को किसी न किसी रूप में ग्रहण भी करना पड़ गया।

इस युग के धार्मिक आन्दोलनों की अपनी एक सीमा वा मर्यादा थी जिसके बाहर बढ़ कर देखना उनके लिए सम्भव न था। स्वामी शंकराचार्य ने जिस धार्मिक सुधार का नेतृत्व किया वह विशेषतः प्राचीनतम हिन्दू धर्म का पुनरुज्जीवन था। उन्होंने ब्राह्मण धर्म का ध्यान एक बार फिर उन वेदों और उपनिषदों की ओर आकृष्ट किया जो उसके मूलाधार थे। उन्होंने उनकी विशिष्ट पंक्तियों की अपने ढंग से व्याख्या कर उनसे दार्शनिक परिणाम निकाले जिन पर उन्होंने अपने मत को प्रतिष्ठित किया। साधारण जनता के लिए उन्होंने एक नवीन स्मार्त्त धर्म का उपदेश दिया जिसमें हिन्दू धर्म ग्रन्थों का विधिवत् अनुसरण करना आवश्यक था। रामानुजाचार्य आदि ने भी पीछे

उन्हींके आदर्शों पर काम किया तथा अपने-अपने भक्ति आन्दोलन चलाये। जिन धर्म सुधारकों ने उन दिनों वेदादि प्राचीन ग्रंथों के प्रति उदासीनता प्रकट की उन्हें भी हिन्दू धर्म की बहुत-सी अन्य पुरानी बातों को ग्रहण करना ही पड़ गया। फलतः यद्यपि उस समय इनके कार्यों द्वारा जर्जरित हिन्दू समाज नष्ट होने से सम्भल गया किन्तु फिर भी ये उसे पूर्णतः समर्थ नहीं बना सके। नवीन भक्ति मार्ग ने इसे ऊँचा अवश्य उठाया किन्तु इसके साथ ही इसमें वह ऐसा नवजीवन न ला सका जो वस्तुतः स्फूर्त्तिदायक हो। उसके निवृत्ति-मार्ग, परलोकवाद, परावलम्बन और अहिंसा धर्म इसमें वह शक्ति न ला सके जिसकी इसे आवश्यकता थी तथा इसमें क्रमशः घुसते जाने वाले अन्ध-विश्वास एवं व्यक्तिगत साधना की प्रवृत्ति ने भी इसमें स्वार्थ परक भावनाओं के ही भरते जाने में सहायता की।

इस युग के प्रारंभिक दिनो से ही भारत में इस्लाम धर्म के प्रचार का कार्य चल रहा था। जिस समय मुहम्मद बिन कासिम ने सिन्ध पर चढ़ाई की थी उस समय तक इस धर्म की सत्ता अफ़गानिस्तान के पश्चिमी भागों तक स्थापित हो चुकी थी। कासिम द्वारा सं० ७७० तक मुल्तान के जीत लिए जाने पर, अरबों का राज्य पंजाब के पश्चिम-दक्षिण कोने तक प्रतिष्ठित हो गया और वे, अपनी अधीनस्थ प्रजा को मुसल्मान एवं ज़िम्मी अर्थात् अमुस्लिम नामक दो भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित करके, तदनुसार शासन करने लग गए। मूलतः, यद्यपि उस समय उनकी ओर से किए गए किसी प्रकार के क्रूरतापूर्ण व्यवहार का पता नहीं चलता, फिर भी हिन्दुओं के ऊपर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध अवश्य लग गए थे। महमूद ग़ज़नी के आक्रमण, विक्रम की ११ वीं शताब्दी के अंतिम चरण में हुए, और १२ वीं के प्रथमचरण में ही यहाँ पर प्रसिद्ध सूफ़ी अल् हुज्विरी आए तथा, इसी प्रकार, १३ वीं के पूर्वार्द्ध में जहाँ मुहम्मद गोरी के आक्रमण हुए वहाँ उसी समय प्रसिद्ध मुईनुद्दीन चिश्ती का भी आगमन हुआ। अतएव, एक ओर जहाँ मुस्लिम आक्रमणकारी लूटमार एवं विजय द्वारा सर्वत्र आतंक और प्रभुत्व जमाते गए वहाँ दूसरी ओर सूफ़ी प्रचारक, अपने संगठित आन्दोलनों द्वारा, इस्लाम धर्म के

व्यापक प्रचार की ओर प्रवृत्त हुए। पंजाब प्रान्त का लाहोर तथा राजस्थान का अजमेर सूफ़ियों के दो प्रमुख अड्डे बन गए जहाँ से दीक्षित हो कर सूफ़ी उपदेशक पूर्व एवं दक्षिण की ओर भी बढ़ने लग गए।

हिन्दू जनता, इस प्रकार के संयुक्त राजनीतिक एवं धार्मिक आक्रमण का सामना करने के लिए, पहले से अभ्यस्त न थी। उसके समाज के अन्तर्गत जिन विविध छोटी छोटी इकाइयों का निर्माण होता आ रहा था वे अधिकतर अपनी ही धुन में लगी रहती थी और उन्हें अपने पड़ोसी प्रतिद्वंदियों से ही पहले निबट लेना कहीं अधिक आवश्यक प्रतीत होता था। पारस्परिक संघर्षों ने उन्हें न केवल सामूहिक रूप में सोचने से ही विरत किया, अपितु उनके कारण उत्पन्न ईर्ष्या एवं द्वेष ने उन्हें इस बात के लिए भी प्रेरित किया कि वे अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिए विधर्मी आगन्तुकों तक से सहायता ग्रहण करें। राजनीतिक दृष्टि से सोचनेवाली इकाइयों ने जहाँ इस नियम का पालन किया वहाँ धार्मिक वर्गों ने अधिकतर भाग्यवाद का सहारा लिया और वे न्यूनाधिक तटस्थ से बन गए। जिन कतिपय दूरदर्शी महापुरुषों ने धार्मिक सुधारों के आन्दोलन चलाए उनका भी ध्यान इहलोक ने आकृष्ट नहीं किया। वे आमुष्मिक श्रेय के फेर में पड़ जाने के कारण अपने ऐहिक प्रेम के प्रति कम ध्यान देने लग गए और अपने समाज के अन्तर्गत बराबर बढ़ती जानेवाली धार्मिक अधोगति को उन्होंने परमेश्वर के रुष्ट हो जाने का परिणाम तक मान लिया। देवल जैसे कतिपय स्मृतिकारों ने धर्म-परिवर्तन के प्रभाव को दूर करने के लिए प्रायश्चित्तों की भी व्यवस्था दी, किन्तु वे उतना सफल न हो सके।

इस प्रकार समाज के उच्चस्तर वाले लोग जहाँ स्वार्थपरता में लगे थे और उन्हें परलोक-परायणता तक अधिक सूझ रही थी वहाँ निम्नस्तरीय वर्ग बहुत कुछ भ्रान्त सा बन गया था और उसे समयोचित मार्ग-प्रदर्शन का कोई अवलंब नहीं मिल रहा था। अपने राजनीतिक अधिकारों के महत्त्व को समझना तो वह भूल ही चुका था उसे अपनी धार्मिक दुरवस्था तक का ज्ञान न था, हिन्दू धर्मोपदेशक अधिकतर पंडित और आचार्य हुआ करते थे जो

शिक्षित लोगों में ही काम करना अधिक सरल समझते थे और निम्न स्तर की अशिक्षित जातियों तक पहुँचना बहुधा वे धर्म विरुद्ध तक मानते थे। अतएव जो कुछ बातें ये सुन वा समझ पाते वे अधूरे रूप में ही रह जातीं और इसके लिए अंधानुसरण के अतिरिक्त कोई अन्य मार्ग नहीं रह जाता। सूफ़ी उपदेशकों ने अधिकतर इन्हींके बीच रह कर काम किया और इनके पूर्व संस्कारों के अनुरूप वे इन्हें मार्ग भी सुझाते गए। तदनुसार इस प्रकार की जनता इस्लाम धर्म के भी उन उसूलों को न समझ पाई जो अपेक्षाकृत अधिक उच्च और व्यापक थे और इनका एक बहुत बड़ा परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं तथा मुसल्मानों के बीच एक अत्यन्त चौड़ी खाई का निर्माण हो गया। हिन्दू, बौद्ध, जैन एवं इनके समुदायों तथा उपसंप्रदायों के बीच भी जो आपस के संघर्ष चला करते थे उनकी संख्या में एक नई ओर से वृद्धि हुई और मुस्लिम शासकों की अदूरदर्शितापूर्ण नीति ने इसे क्रमशः बढ़ावा देकर अत्यन्त भयंकर रूप में परिणत कर दिया।

घ. सिंहावलोकन

सारांश यह कि भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकालीन युग में जिसके अंतिम दिनों में संत-साहित्य के निर्माण का आरम्भ हुआ। इस देश के राजनीतिक, सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में से प्रत्येक के अन्तर्गत विकेंद्रीकरण की प्रवृत्ति जागृत हो गई थी। प्रत्येक में विभिन्न इकाइयों की सृष्टि हो गई थी जो एक दूसरे के प्रति स्वभावतः विजातीयता का भाव रखने लगी थी और इसके कारण सर्वत्र अविश्वास, मनोमालिन्य तथा विद्वेष तक का प्राधान्य हो गया था। उनका जितना ध्यान अपने पारस्परिक झगड़ों अथवा मतभेदों की ओर जाता था उतना किसी सामूहिक संगठन की ओर नहीं जा पाता था। राजनीतिक क्षेत्र में तो इसका कोई उल्लेखनीय प्रयत्न हुआ ही नहीं, यदि कभी-कभी किसी स्मृतिकार अथवा निबंधकार ने उस समय की सामाजिक दुरवस्था को सम्भालने की ओर ध्यान दिया तो उसने भी पर्याप्त दूरदर्शिता नहीं प्रदर्शित

की तथा ऐसे लोगों में मतभेद भी कम न रहे। इसी प्रकार धार्मिक क्षेत्र के सुधारकों में से भी अधिकांश आचार्य वा शास्त्रवेत्ता कोटि के ही थे जिन्हें केवल शिक्षित वर्गों में काम करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता और जो अधिकतर शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रमाण भी देते रहते थे जो सर्वसाधारण के लिए बोध गम्य न थे। इसलिए साधारण जनता पर उनके भाष्यों वा उपदेशों का समुचित प्रभाव नहीं पड़ पाता था। इसके विपरीत इस्लाम धर्मी सूफ़ियों ने यदि अपने उपदेश, सर्वसाधारण में, देने के प्रयत्न किए तो उन्हें भी केवल वैसी ही बातों को अधिक महत्व देना पड़ा जो या तो अन्धविश्वास अथवा वाह्याचारों से सम्बन्ध रखती थीं और जो इसी कारण उनके सच्चे आदर्श जीवन की भावना के साथ कोई संगति नहीं रखती थीं। मुस्लिम शासकों द्वारा बलात्कार अथवा प्रलोभन के आधार पर किए गए धर्म-परिवर्तन का प्रभाव कभी अच्छा नहीं पड़ता था। इन दोनों के कारण केवल अन्धविश्वास अथवा विद्वेषभाव की ही वृद्धि होती थी और वस्तुतः विकेन्द्रीकरण को उत्तेजना मिल जाती थी।

विक्रम की १३ वीं शताब्दी तक दीख पड़ने वाली इस प्रकार की परिस्थिति में उसके पीछे भी बहुत कम परिवर्तन हुआ। जिस प्रकार के समाज का चित्रण उन दिनों साहित्य-रचना करने वाले विचारशील पुरुषों के उपलब्ध ग्रन्थों में मिलता है उससे पता चलता है कि इसके सुधार की ओर पूरा ध्यान देने वाले अनेक महान् व्यक्तियों को भी उस समय अच्छी सफलता नहीं मिल पाई। जनता का नैतिक स्तर बहुत गिर गया था और किसी शक्तिशाली एवं कुशल शासक के नियन्त्रण से अवकाश पाते ही उसे अपनी मर्यादा का ज्ञान नहीं रह जाता था। १५ वीं शताब्दी के विद्यापति ने अपनी रचना 'कीर्त्तिलता' में राजा गणेश्वर की मृत्यु के अनंतर उपस्थित हो गई सामाजिक दुर्दशा का जो चित्र खींचा है वह सभी बातों पर विचार करते हुए अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं कहा जाता। उन्होंने वहाँ कहा है कि राजा के मरते ही इसका इतना प्रभाव पड़ा कि "ठाकुर ठग हो गए चोरों ने बलात्कार पूर्वक घरों पर अधिकार जमा लिया, भृत्यों ने स्वामियों को पकड़ लिया, धर्म

चला गया, धन्धे ठप्प हो गए, खलों ने सज्जनों को पराभूत कर दिया, कोई न्याय करने वाला विचारक नहीं रह गया। अधम उत्तम का कोई पारखी नहीं रहा और जाति कुजाति में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होने लगे, काव्यरस का मर्मज्ञ कोई न रहा[1]" यह दशा तिरहुत प्रदेश की बतलाई गई है, किन्तु यदि इसे उस काल के किसी अन्य उत्तरी प्रान्त के विषय में भी समझ लिया जाए तो अनुचित नहीं।

इस कवि ने उस रचना के उसी 'पल्लव' में अन्यत्र यह भी लिखा है कि इस समय की स्थिति के अनुसार "हिन्दुओं तथा तुर्कों के एक साथ रहने से एक का दूसरे के द्वारा उपहास होता रहता है। कहीं बांग (अज़ां) होती है तो कहीं वेदपाठ हुआ करता है, कहीं बिसमिल्लाह (के साथ कोरान का पाठ आरंभ) किया जाता है तो कहीं कर्णवेध (का संस्कार) होता है। कहीं ओझा आता है तो अन्यत्र खोजा (ख़्वाजा) की पूछ हुआ करती है, कहीं नक्षत्र (पर्व वा व्रत) रहा जाता है तो कहीं रोज़ा रखा जाता है। कहीं ताम्रपत्र (अर्घपात्र वा आचमनी) को उपयोग में लाते हैं तो कहीं कूजे (प्याले वा सकोरे) से काम लिया जाता है और कहीं पूजा की जाती है तो अन्यत्र नमाज़ के ही नियम का पालन हुआ करता है।[2]" विद्यापति ने यह वर्णन उस समय के जौनपुर नगर की दशा का परिचय देते हुए, किया है और यह कदाचित्, तथ्य से दूर भी नहीं कहा जा सकता। उन्होंने इसके आगे यह भी बतलाया है कि उन दिनों तुर्क लोग हिन्दुओं को अपमानित करने से भी नहीं चूकते थे। वे लोग "ब्राह्मण वटुकों को पकड़ कर लाते हैं और उसके माथे पर गाय का 'शुरुआ' डाल देते हैं, उसका तिलक पोंछ कर जनेऊ भी तोड़ देते हैं। उनके ऊपर वे घोड़े भी चढ़ाना चाहते हैं...हिन्दू कह कर दूर से ही निकाल दिया करते हैं और छोटे-छोटे तुर्क तक हिन्दुओं को

---

१. 'कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा'—शिवप्रसाद सिंह (साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५५ ई०), पृ० ३४।

२. 'कीर्त्तिलता और अवहट्ट भाषा', पृ० ४२-३।

बन्दर-घुड़की दिखलाते हैं तथा उन्हें देख कर ऐसा लगता है मानो वे इन्हें पूरा पूरा निगल जाएँगे।" इत्यादि।

इसी प्रकार १६ वीं शताब्दी के गुरु नानकदेव की बानियों से भी पता चलता है कि ऐसी ही दशा पश्चिमी भारत की ओर भी रही होगी। वे एक स्थल पर कहते हैं कि हिन्दू जनता, मुसल्मानों के दुर्व्यवहारों द्वारा आतंकित की जाने पर अपने कर्त्तव्यों से विमुख तक हो गई थी। उनके अनुसार "हिन्दुओं में से कोई भी वेदशास्त्रादि को नहीं मानता, प्रत्युत अपनी बड़ाई में ही लगा रहता है। उनके कान व हृदय तुर्कों की धार्मिक शिक्षाओं से भरते जा रहे हैं और मुसल्मान कर्मचारियों के निकट एक दूसरे की निन्दा करके ये लोग सभी को कष्ट पहुँचा रहे हैं ये समझते हैं कि रसोंई के लिए चौका लगा देने मात्र से ही हम पवित्र बन जाएँगे।[1]" वे अन्यत्र मुसल्मानी शासन में काम करनेवाले हिन्दू टैक्स कलक्टरों को लक्ष्य करके भी कहते हैं "गौ तथा ब्राह्मणों पर कर लगाते हो और धोती, टीका एवं माला जैसी वस्तुएँ धारण किए रहते हो। अरे भाई, तुम अपने घर तो पूजा पाठ किया करते हो और बाहर कोरान के हवाले दे कर तुर्कों के साथ सम्बन्ध बनाए रहते हो। अरे ये पाखंड छोड़ क्यों नहीं देते? और अपनी मुक्ति के लिए तुम नामस्मरण को क्यों नहीं अपनाते?[2]" गुरु नानकदेव को ऐसी बातें देख कर अत्यन्त कष्ट होता था और उन्हें यह देख कर आश्चर्य भी होता था कि ये लोग ऐसा क्यों किया करते हैं। उन्हें हिन्दुओं के इस प्रकार अपना धर्म त्याग कर देने का जितना कष्ट नहीं था उतना उनके नैतिक पतन के कारण था और वे इसे परमात्मा की इच्छा पर निर्भर मान कर कभी-कभी यहाँ तक कह डालते थे कि स्वयं उसीने हमारे ऊपर मुगलों को यमराज के रूप में भेजा है।[3]

गुरु नानकदेव के समसामयिक वल्लभाचार्य को भी मुसल्मानों के

---

१. 'आदि ग्रन्थ' तारन तरन संस्करण पृ. ३१८।

२. 'आदि ग्रन्थ' पृ. २५५।

३. वही पृ. ३६०।

आक्रमण द्वारा हिन्दुओं की धार्मिक स्थिति के बिगड़ जाने का मार्मिक दुःख था और वे भी उस काल की दयनीय दशा का परिचय अत्यन्त करुण शब्दों में देते जान पड़ते हैं। उनका कहना है "म्लेच्छों द्वारा आक्रांत हो कर यह देश विभिन्न प्रकार के पापों का अड्डा बन गया है सत्पुरुष पीड़ित हो रहे हैं और सभी लोग व्यग्र और व्यथित हैं। गंगादिक तीर्थों का स्थान दुष्टों के अधिकार में है और उनका महत्त्व तिरोहित हो चुका है तथा इस समय देवता तक प्रच्छन्न हो गए हैं। अज्ञान एवं अशिक्षा के कारण वेदादि के मन्त्र प्रायः प्रभाव हीन और नष्ट हो रहे हैं और लोग ब्रह्मचर्यादि के व्रतों से हीन रहा करते हैं।"[1] यह युग धार्मिक प्रवृत्तियों को ही अधिक महत्त्व देता था, इस कारण ऐसे लेखकों और कवियों की पंक्तियों में भी परिस्थिति की चर्चा उसी दृष्टि से की गई दीख पड़ती है और हम संभवतः यह भी अनुमान कर सकते हैं कि इनके कथन एकांगी मात्र हैं। किन्तु फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि उस समय के वातावरण में सर्वत्र सामाजिक अस्त व्यस्तता का बोल बाला रहा होगा तथा मुसल्मानों द्वारा किए गए केन्द्रीकरण के प्रयत्न सब के लिए स्वभावतः रुचिकर न प्रतीत हो रहे होंगे। इस बात को उस काल के फ़ारसी इतिहास लेखकों ने भी स्वीकार किया है कि मुस्लिम शासकों की ओर से उस समय जो कुछ भी व्यवस्था की जाती थी उसमें हिन्दू हित के प्रति पूरा ध्यान नहीं दिया जाता था।

ईस्वी सन् १२०० से लेकर सन् १५५० तक के समय वाले उत्तरी भारत के निवासियों की जीवन-पद्धति का परिचय दिलाते हुए, एक आधुनिक मुस्लिम लेखक ने, उस समय लिखे गए फ़ारसी इतिहास-ग्रन्थों के आधार पर, बतलाया है "मुसल्मानों के प्रभाव में आ जाने के कारण प्राचीन हिन्दू व्यवस्था प्रायः पूर्ण रूप से नष्ट हो गई। राजनीतिक एवं सामाजिक वर्गीकरण ध्वस्त कर दिये गये, वर्णव्यवस्था विकलांग वा रूपांतरित कर दी गई, धार्मिक

---

१. कृष्णाश्रय, षोडश ग्रन्थ श्लोक २, ३, और ५ ('पाटल' सन्त साहित्य विशेषांक अप्रैल १९५३ ई० पटना, पृ० ४७।

प्रवृत्तियों को नई दिशा एवं नई गति प्रदान की गई और, इस प्रकार, अन्त में एक अविभाजित भारत की भावना सम्भव हो गई।"[1] यहाँ पर लेखक का दृष्टिकोण उन इतिहासज्ञों से अधिक भिन्न नहीं कहा जा सकता जिनके द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री का उसने उपयोग किया है। फिर भी उसके अध्ययन एवं अनुमान के भी आधार पर हमें यही जान पड़ता है कि संत-साहित्य की रचना का आरम्भ होने के समय से लेकर उसके प्राथमिक विकास के दिनों तक भारतीय समाज के अन्तर्गत किसी सर्वांगीण व्यवस्था की स्थिरता नहीं आ पाई थी। मुस्लिम शासकों तथा इस्लाम धर्म के प्रचारकों का वास्तविक ध्येय प्राचीन हिन्दू व्यवस्था की जगह विजेताओं द्वारा मान्य इस्लामी व्यवस्था को स्थापित कर देना ही रहा और उन्होंने अन्य किसी भी आदर्श के साथ समन्वय लाने का कभी विचार तक नहीं किया।

अतएव, एक ओर जहाँ हिन्दू धर्म-सुधारक अपनी बिगड़ती हुई दशा को सँभालने की ओर प्रयत्नशील थे और अपने युग की वस्तुस्थिति पर दुख प्रकट करते रहते थे वहाँ दूसरी ओर मज़हबे इस्लाम के हिमायती यहाँ से कुफ्र को नेस्तनाबूद करने पर तुले हुए थे। पहले दल के लिए यदि अपने प्राचीन धर्म-ग्रन्थ आधार थे और उनका आश्रय ले कर वह समयानुकूल व्यवस्था दिया करता था तो दूसरे दल को अपने राजसत्ता का भी पूरा बल प्राप्त था और वह अपनी ओर से मनमानी करने तक पर उतारू हो जाया करता था। एक के लिए जहाँ जनता के सामने आत्मरक्षा का अधिक-से-अधिक सुगम सुझाव प्रस्तुत करना अपना कर्त्तव्य प्रतीत हो रहा था वहाँ दूसरे को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि हम उसे अपने 'दीन' के झंडे के नीचे किसी भी प्रकार ला देने के लिए स्वयं परमेश्वर द्वारा नियुक्त किये गए हैं।

---

1. Kunwar Mahammad Ashraf: life and conditinos of the people of Hindustan (1200-1500 A. D.)—(Mainly based on Islamic soures) J. A. S. B. (Letters) Vol I 1935, No. 2 p. 107

दोनों को एक दूसरे का पक्ष नितान्त विरुद्ध जान पड़ रहा था, इसलिए उनमें से कोई भी उससे किसी बात पर हाथ मिलाना नहीं चाहता था और न उसे यही सूझ रहा था कि हम दोनों के लिए एक साथ चलने का एक सामान्य मार्ग भी हो सकता है। उन दोनों के ही लिए 'धर्म' से अभिप्राय केवल उन आदेशों का पालन मात्र था जो उनके अपने-अपने धर्म-ग्रन्थों के भीतर निहित थे और उनका पुनीत कर्त्तव्य केवल उन्हीं सिद्धान्तों तक में विश्वास कर लेना था जिनका उनमें प्रतिपादन किया गया था। इस प्रकार दोनों एक ओर अपनी-अपनी रूढ़ियों द्वारा नियन्त्रित थे वहाँ दूसरी ओर केवल बाह्याचारों को ही अधिक महत्व देते जा रहे थे। उनका ध्यान कभी ऐसी बातों की ओर नहीं जा पाता था जो धर्म तत्त्व के मूल में निहित कही जा सकती हैं और जिन्हें भलीभांति समझ लेने पर न तो किसी वास्तविक मतभेद का प्रश्न उठ सकता है और न व्यर्थ के लड़ाई-झगड़े का कोई प्रसंग ही छिड़ सकता है।

दोनों धर्मों के अनुयायियों के पारस्परिक विद्वेष और मनोमालिन्य के कारण भारतीय समाज में अशान्ति फैल गई थी और, केवल तथाकथित धर्म के नाम पर एक मनुष्य दूसरे को अपना परम शत्रु माना करता था। हिन्दुओं को तो स्वयं अपने सहधार्मियों में से भी कुछ लोग सर्वथा नीच और अस्पृश्य दीख रहे थे जिन्हें वे किसी प्रकार भी अपने उच्चस्तरीय समाज में सम्मिलित करना धर्मविरुद्ध समझते थे और, इस प्रकार, स्वयं उनके अपने क्षेत्र में भी अविश्वास एवं अलगाव की भावना काम कर रही थी। एक मानव दूसरे मानव को केवल उनकी जन्मगत जाति के ही स्तर पर स्वीकार करने को तैयार था और उसीके अनुरूप उसका मूल्यांकन भी किया करता था। ऐसे अवसरों पर वह न तो किसी नैतिक मानदण्ड को कभी महत्व देता था और न यही सोच पाता था कि हम सभी लोग, एक धर्मविशेष के अनुयायी होने की, दृष्टि से भी, किसी एक सूत्र के बंधन में लाये जा सकते हैं। वास्तव में इनमें भ्रातृभाव का नितांत अभाव था। भक्ति आंदोलनों के पुरष्कर्ताओं ने इस ओर कुछ ध्यान अवश्य दिया और उन्होंने बाहरी भेद-

भाव को मिटाने का कुछ प्रयत्न भी किया। परन्तु उनके सभी अनुयायी इसके महत्व को पीछे भलीभांति समझ न पाये और, विविध सांप्रदायिक भेषों तथा उपासनापद्धतियों के जंजाल में सर्वथा ग्रस्त बने रहने के कारण, उन्हें वैसी व्यापक दृष्टि से सोचने का कभी पूरा अवसर भी नहीं मिल पाया।

संत-साहित्य के निर्माण का सूत्रपात, इन्हीं परिस्थितियों में, तथा सर्व-साधारण को तज्जन्य दुष्परिणामों से बचाने के प्रयत्न में ही, किया गया था और इसके रचयिताओं ने सदा इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए ही, चेष्टा की। जिन ऐसे महापुरुषों को ये बातें सूझ सकीं और जिनकी व्यक्तिगत अनुभूति और स्वचिंतन ने उन्हें कुछ बल दिया उनसे अपने सामने की दयनीय दशा देखी न जा सकी और वे इसे सुधारने के उद्देश्य से कुछ कहने अथवा लिखने भी लग गए। ऐसे लोग विशेषकर उन्हीं में से थे जो या तो भक्ति-साधना में लीन थे, योगसाधना में प्रवृत्त रहते थे अथवा आत्मचिन्तन किया करते थे। वे किसी अनिर्वचनीय सत्ताविशेष के अस्तित्व में पूरी आस्था रखते थे और उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक व्यापक और उदार थी। उनका विचार स्वातन्त्र्य उन्हें न तो, किन्हीं परम्परागत रूढ़ियों अथवा शास्त्रीय पद्धतियो का पालन करने के लिए, कभी बाध्य होने देता था और न उनका स्वभाव ही ऐसा था जो उन्हें, एक विशुद्ध आध्यात्मिक जीवन के सरल मार्ग से हट कर, किसी बाह्याचार की जटिलताओं के फेर में पड़ने दे। उन्होंने इस ओर जो कुछ भी सोचा उसे अपने दैनिक जीवन के आचरण में उतारना भी चाहा तथा, इस प्रकार जो कुछ भी उन्हें शाश्वत और सार्वभौम प्रतीत हुआ उसे उन्होंने दूसरों के प्रति भी कह देने का प्रयत्न किया और उन्होंने न तो स्वयं किसी का अन्धानुसरण किया और न किसी अन्य को ही ऐसा करने का परामर्श दिया। उन्होंने केवल अपने सामने वर्त्तमान विषय स्थिति के गम्भीर परिणाम की ओर सबका ध्यान आकृष्ट किया, उसका गुरुत्व न समझ कर, मिथ्याचरण में उनके प्रवृत्त रहने की कटु आलोचना की तथा उन्हें अपनी समझ के अनुसार सच्चे मार्ग को ग्रहण करने का उपदेश भी दिया।

(३) परम्परा की अंतःप्रेरणा

क. उपक्रम

सन्त साहित्य के प्रमुख विषयों में सत् वा परमतत्त्वरूपी राम के अनिर्वचनीय रूप का दिग्दर्शन, मायातत्त्व की व्याख्या, जीवात्मा के प्रकृत रूप तथा उसके महत्त्व का परिचय, परमात्मतत्व के प्रति प्रकट किए गए विविध प्रकार के उद्‌गार, स्वानुभूति परक आत्म निवेदन, नामस्मरण की साधना, सात्त्विक जीवन का महत्त्व, विडंबनाओं की निःसारता, आदि बहुत सी बातें गिनाई जा सकती हैं। सन्तों ने सांसारिक प्रपंचों में फँसे मोहासक्त लोगों का भी वर्णन किया है और उनके सामाजिक एवं सांप्रदायिक भेद-भावों की आलोचना की है। उन्होंने आदर्श सन्त को स्वयं सत् का ही प्रतीक माना है और अपने पथ-प्रदर्शक गुरु को भी स्वभावतः वही महत्त्व प्रदान किया है। अपनी रचनाओं में वे सदा आदर्शों एवं आध्यात्मिक गुणों की ही ओर विशेष ध्यान देते दीख पड़ते हैं। किसी व्यक्ति के भौतिक गुणों की चर्चा अथवा उसके ऐतिहासिक परिचय का उल्लेख उनमें कभी नहीं पाया जाता। इसी प्रकार, परमतत्त्व का वर्णन करते समय भी वे एक ऐसी रहस्यमयी शैली का प्रयोग करते हैं जिससे किसी प्रकार की कोई मूर्त्त भावना स्पष्ट नहीं हो पाती। वे न तो किसी दार्शनिक तर्कपद्धति को काम में लाते हैं और न कोई व्याख्या ही करते जान पड़ते हैं। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ऐसे परमगूढ़ विषयों का ठीक-ठीक वर्णन, हमारी भाषा जैसे सीमित माध्यम के द्वारा, कभी संभव नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि उन्हें हम अपनी रचनाओं में एक ही बात को, न केवल अनेक बार प्रत्युत अनेक ढंग से भी, कहते हुए पाते हैं।

ख. सैद्धांतिक

सन्त-साहित्य के रचयिताओं ने कभी दार्शनिक होने का दावा नहीं किया और न किसी दर्शन विशेष के अनुसार अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की आवश्यकता का ही उन्होंने कभी अनुभव किया। उनके दार्शनिक

सिद्धान्तों के विषय में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि उन्होंने इन्हें अधिकतर सत्संगों के आधार पर ग्रहण किया होगा और उन पर फिर स्वयं भी विचार किया होगा। सन्त साहित्य के रचयिताओं में से अधिकांश का अशिक्षित और निरक्षर तक होना बतलाया जाता है। केवल कुछ के ही लिए प्रसिद्ध है कि उन्होंने दर्शन जैसे शास्त्रों का अध्ययन किसी नियमित रूप से किया था। अतएव पूरे सन्त साहित्य का विवेचन किसी निश्चित् सैद्धांतिक क्रम के अनुसार नहीं किया जा सकता और न इस में मुख्य दर्शनों में से किसी के प्रतिपादित विषयों का स्पष्ट वर्णन दिखला कर उसके आधार पर किसी सन्त कवि के निजी सिद्धान्तों का निर्देश ही किया जा सकता है। सन्त कवियों की रचनाओं का पृथक्-पृथक् अध्ययन करते समय भी कभी-कभी हम बड़े सन्देह में पड़ जाते हैं कि अमुक व्यक्ति को हम किस दार्शनिक श्रेणी में रखें, किसमें नहीं। जिस समय वे अपने किसी सिद्धान्त का परिचय देने लगते हैं उन्हें प्रायः इस बात का ध्यान नहीं रहा करता कि उसे कोई दार्शनिक सीमा भी दी जा सकती है तथा उनका एक ही विषय को विभिन्न कोटियों में रखने योग्य दर्शाना उनके अनिश्चय का सूचक भी कहा जा सकता है। परन्तु सन्तों पर इस प्रकार के किसी दोष का मढ़ना कभी उचित भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि दार्शनिक दृष्टि से पाए जानेवाले ऐसे दोषों की वास्तविक कसौटी सदा तर्क हुआ करता है जो शुद्ध ज्ञान मात्र पर ही अवलंबित है। सिद्धान्तों की स्वीकृति जहाँ स्वानुभूति जन्म आस्था पर आश्रित हो वहाँ तर्क को अधिक महत्त्व देना कभी युक्ति संगत नहीं कहा जा सकता।

सन्तों के साहित्य में जो हमें दार्शनिक सिद्धान्त उपलब्ध हैं वे, इसी कारण, जितना 'मान्य' और 'स्वीकृत' कहे जा सकते हैं उतनी उन्हें हम 'सिद्ध', 'निरूपित' अथवा 'प्रतिपादित' नहीं कह सकते और न, उनके लिए, उसमें हम किसी तर्क पद्धति का ही पता लगा सकते हैं। इसलिए परमत्तत्त्व, जगत्तत्त्व, मायातत्त्व अथवा जीवतत्त्व आदि के सम्बन्ध में जो बातें कही जा सकती हैं वे परिचयात्मक ही हो सकती हैं, उनके लिए किन्हीं दार्शनिक युक्तियों का भी उल्लेख करते जाना संभव न होगा।

१ परमतत्त्व—संत साहित्य में परमतत्त्व को सर्वत्र एकमात्र अथवा अद्वितीय तथा सर्वव्यापी माना गया है। किन्तु यह भी इस दृष्टि से नहीं कहा गया है कि इसके द्वारा उसका पूरा पता दिया जा सकेगा। वास्तव में उसके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका पूरा अनुभव हमारे सीमित साधनों द्वारा किया नहीं जा सकता। कबीर साहब ने इसी कारण स्पष्ट शब्दों में कह दिया है "वह जैसा कहा जाता है वैसा ही उसका अपने पूर्ण रूप में भी होना सम्भव नहीं, वह जैसा है वैसा ही है[१]।" और गुरु नानक देव ने भी, इसीलिए यहाँ तक कह दिया है "तुम लाख सोचो उसके बारे में पूरा सोच सकना सम्भव नहीं हो सकता[२]।" कबीर साहब ने एक स्थल पर उसके विषय में संदेहात्मक रूप में भी कहा है—"परमात्मा कुछ है भी वा नहीं?"[३] परन्तु फिर भी वे एक दूसरी पंक्ति में यह भी कहते दीख पड़ते हैं—"मेरे स्वयं विचार करते-करते अपने मन में ही सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि हो गई, मुझे इसके लिए अधिक प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ी।"[४] इसके सिवाय वे यह भी कहते हैं—"जिस किसी ने उसे एक और अद्वितीय रूप में जान लिया उसी को सत्य की उपलब्धि हुई अथवा वही आनंदित हुआ[५]।" सन्त नामदेव भी इसी प्रकार कहते हैं—"वही एक है, वही अनेक है और वही व्यापक एवं पूरक भी है। उसकी चित्र-विचित्र माया के द्वारा मोहित हो जाने के कारण उसे

---

१ "जस कथिये तस होत नहीं, जस है तैसा सोइ" (कबीर ग्रन्थावली रमैणी ३ पृ० २३०)

२ "सोचै सोचि न होवई, जे सोची लखबार" जपुजी, छंद १।

३ "तहां किछु आहि कि सुन्यं" (क० ग्रं०, पद १६४ पृ० १४३)

४ "करत विचार मन ही मन उपजी, नां कहीं गया न आया।"
(क० ग्रं० पद २३ पृ० ६६)

५ "एक एक जिनि जाणियां, तिनही सच पाया"
(वही, पद १८१ पृ० १४६)

कोई विरला ही समझ पाता है[१]।"

परन्तु सन्तों की परमात्मतत्त्व विषयक ऐसी धारणा कुछ नवीन नहीं और न उनका वैसा कहना ही कोई नवीनता रखता है। प्राचीन दार्शनिक ग्रंथों में इस प्रकार के अनेक ऐसे प्रसंग आये हैं जहाँ ऐसे कथन मिल जाते हैं, जैसे, "न तो उस तक चक्षुरिन्द्रिय की गति है, न वहाँ तक हमारी वाणी ही पहुँच सकती है और न मन का प्रवेश ही हो पाता है, हम उसे नहीं जानते और वह विदित हो जाने पर भी भिन्न है[२]।" "वाणी वहाँ से उसे बिना उपलब्ध किये ही, मन के साथ वापस आ जाती है[३]।" कहते हैं कि किसी समय बाष्कलि ने वाध्व नामक ऋषि से प्रश्न किया था कि ब्रह्म क्या है जिसके उत्तर में उन्होंने मौन धारण कर लिया था। पहली बार प्रश्न करने पर जब उत्तर न मिला तो बाष्कलि ने समझा कि ऋषि ने कदाचित् सुना न होगा। किन्तु फिर पूछने पर भी उन्होंने जब उसकी ओर तीव्र दृष्टि से देखा तो उसे भय हुआ कि कहीं मैंने इन्हें अप्रसन्न तो नहीं कर दिया। इस बार ऋषि ने उससे झुंझला कर उत्तर दिया "मैं बतला तो रहा हूँ कि वह उपशांत वा मौन रूप है, तुम में समझ भी तो हो[४]।" 'कठोपनिषद्' में, इसी लिए एक स्थल

---

१ एक अनेक विआपक पूरक, जत देखउ तत सोई।
माइआ चित्र विचित्र विमोहित, विरला बूझै कोई॥
('आदि ग्रंथ' रागु आसा, पद १ पृ० ४८५ खालसा प्रेस, अमृतसर)

२ "न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग्गच्छति न मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि।" केनोपनिषद् (१।३)

३ "यतो वाचो निवर्तन्ते। अप्राप्य मनसा सह"—तैत्तिरीय उपनिषद् (२।४।१)

४ "बाष्कलिना च बाध्वः पृष्टः सन्नवचनेनैव ब्रह्म प्रोवाचेति श्रूयते—"सहोवाचाधीहि भो इति स तूष्णीं बभूव तं ह द्वितीये वा तृतीये वा वचन उवाच ब्रूमः खलु त्वंतु न विजानासि। उपशान्तोऽयमात्मा"—ब्रह्मसूत्र शाङ्कर भाष्य (३।२।१७) निर्णय सागर प्रेस, पृ० ३५८

पर यों भी कह दिया गया है "वह 'है' कह देने के अतिरिक्त अन्य किस प्रकार विदित हो सकता है[1] ?" और 'तैत्तिरीयोपनिषद्' की एक पंक्ति से यह भी प्रतीत होता है कि "यदि कोई ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो ब्रह्म-वेत्ता उसे ही सत् समझ लेते हैं[2] ।" जिसका समर्थन अन्यत्र भी होता है[3] । उपनिषदों में इस प्रकार की उक्ति मिलती है "सदेव सोम्येदमग्र आसीत्" अर्थात् हे सोम्य ! आरंभ में यह एक मात्र अद्वितीय सत् ही था और उसी को स्वामी शंकराचार्य ने, अस्तित्व मात्र का बोधक होने के अतिरिक्त, सूक्ष्म, निर्विशेष सर्वगत, एक निरंजन निरवयव और विज्ञान स्वरूप भी बतलाया है[4] तथा सन्तों ने भी उसी के लिए इनमें से प्रायः सभी विशेषणों के प्रयोग किए हैं ।

सन्तों ने उस तत्त्व के लिए निषेधात्मक शब्दों के प्रयोग किए हैं जो भी प्राचीन परम्परा के ही अनुकूल है । कबीर साहब उसके लिए कहते हैं—"वह बिना किसी वर्ण का है, एक मात्र है, अखंड है और अविनाशी है तथा सभी के घट-घट में व्याप्त है । उसकी न तो कोई तोल है न उसका कोई मूल्य है, न उसकी कोई माप है और न उसकी गिनती का ही कोई ज्ञान हो सकता है । वह न तो भारी है न हल्का है, उसे कोई परख नहीं सकता"[5] इत्यादि जिससे जान पड़ता है कि वे उसके लिए परस्पर विरोधी भावोंवाले गुणों का

---

१ "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथंतदुपलभ्यते" (२।६।१२) [Compare also Exodus, (Ch. 3-13-4) "I am that I am")

२ "अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुः" (२।६) ।

३ "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति"—मुण्डकोपनिषद् (३।२।६) ।

४ छान्दोग्योपनिषद् (५/२/१) शांकर भाष्य ।

५ अवरन एक अकल अविनासी, घटि-घटि आप रहै ।
तोल न मोल माप कछु नाहीं, गिनती ग्यांन न होई ।
नां सो भारी नां सो हलका, ताकी पारिष लषै न कोई ॥

(क० ग्रं० पद १६६ पृ. १४४)

निर्देश कर रहे हैं। इसी प्रकार वे अन्यत्र भी कहते हैं कि "वह अलख, निरंजन, निरभै, निराकार, शून्य एवं स्थूल से भिन्न अथवा दृश्या-दृश्य से विलक्षण भी है।"[१] सन्त सुन्दरदास ने उसके लिए यहाँ तक कह डाला है कि "वह है भी और नहीं भी है तथा उसे नहीं और है के बीच में देखना चाहिए।"[२] ये सभी बातें प्राचीन उपनिषद्-साहित्य में भी मिलती हैं तथा उसमें परमात्मतत्त्व का ऐसा वर्णन अनेक स्थलों पर मिलता है। उदाहरण के लिए 'ईशावास्य' के एक मन्त्र में यह भी कहा गया मिलता है कि "वह चलता है, नहीं भी चलता है, दूर है और निकट भी है, वह सभी के भीतर वर्त्तमान है और वही सबके बाहर भी दिखलाई पड़ रहा है।[३]" तथा, इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' में भी आता है कि "वह बैठा हुआ ही दूर तक चला जाता है और सोते रहने पर भी सभी ओर पहुँच जाता है।[४]" जिनसे इस ढंग के वर्णन का कुछ पता चल जाता है।

वास्तव में परमात्मतत्व का विषय ही ऐसा है जिसका वर्णन करना केवल प्रयत्नों तक ही जा सकता है, उसकी सफलता निश्चित नहीं। इसीलिए कबीर साहब ने अपनी एक रचना में, हार मान कर, यहाँ तक कह दिया है कि "जैसा तू है वैसा वस्तुतः कोई नहीं कह सकता, सभी 'आन की आन'

---

१ अलख निरंजन लखै न कोई निरभै निराकार है सोई।
सुनि असथूल रूप नहीं रेखा, द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहीं पेखा॥
(क० ग्रं० रमैणी, पृ. २३०)

२ 'नाही' 'नाही' कर कहैं, है है कहै बखानि।
'नाही' 'है' के मध्य है, सो अनुभव करि जानि॥४१॥
(ज्ञान समुद्र पंचम उल्लास)

३ "तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।'
ईशावास्योपनिषद् (५)

४ "आसीनो व्रजति शयानो याति सर्वतः"—कठोपनिषद् (१।२।२०)

बतलाते हैं।[१]" तथा इसी प्रकार गुरु नानकदेव ने भी कहा है "और आगे क्या है इसे कोई कह नहीं सकता। जो कहेगा उसे पीछे पछताना पड़ेगा।[२]" इस कारण उसे 'एक' भी कह देना ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा करना भी उसे सीमित कर देने जैसा कहा जा सकता है।[३] ऐसी दशा में कदाचित् सबसे अच्छा यही कहा जा सकता है कि उसे हम 'केवल' मात्र कहदें अथवा यह कह कर ही सन्तोष करलें कि "जैसा है वैसा वही जाने, हम तो इतना ही कह सकते हैं कि 'वही है' और उसके अतिरिक्त कुछ भी दूसरा नहीं है।[४]" और कबीर साहब के इसी कथन को सन्त दादूदयाल ने एक दूसरे ढंग से भी कहा है। वे कहते हैं "मैं उस दयाल को बाहर भीतर सर्वत्र ही देखता हूँ और मेरी निश्चित धारणा है कि उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।[५]" जो 'ईशावास्य' की उस प्रथम पंक्ति की केवल एक व्याख्या मात्र है जिसमें कहा गया है "यह सभी कुछ ईश द्वारा व्याप्त है और जो कुछ भी है वही है।[६]" अनुभूति के आधार पर सन्तों ने उसे इस रूप में भी प्रकट किया है कि जहां तक हमारी पहुँच है वह उसके भी

---

१ "जस तू तस तोहि कोई न जान, लोग कहैं सब आंनहि आंन"

(क. ग्रं. पद ४७. पृ. १०३)

२ "ताकी आगला कथिया न जाई। जे को कहै पिछै पछताउ।"

जपुजी (३५)

३ "एक कहूं तो है नहीं, दोय कहूं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर बिचारि॥" (क. ग्रं.)

४ "वो है तैसा वो ही जानै, ओही आहि आहि नहीं आनै।"

(वही, रमैणी पृ. २४१)

५ दादू देखौं दयाल कौं, बाहरि भीतरि सोइ।
सब दिसि देखौं पीव को, दूसर नाहीं होई॥

('वानी', भा. १ पृ. ५३)

६ 'ईशावास्यमिदं सर्वं, यत्किञ्च जगत्यां जगत्"—ईशावास्योपनिषद् (१)

आगे है[1] और उसी को कभी कभी चौथे पद का भी नाम दिया गया है[2] कबीर साहब ने शरीर के भीतर उसका एक स्थान भी निश्चित कर दिया है जो "बंकनालि के अनन्तर, पश्चिम दिशा के बाट पर भँवर गुफा के घाट[3]" द्वारा अभिहित किया गया है और उनकी यह गुफा भी कदाचित् वह गुहा ही है जिसका वर्णन 'मुण्डकोपनिषद्' में हुआ है। वहाँ कहा गया है "वह तत्व वृहत् है दिव्य है, अचिन्त्य रूप है, सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है, दूर से भी सुदूर है और निकट भी है। अनुभव करनेवालों को वह गुहा में निहित है।[4]"

२. जीवात्मा और जगत्—परमात्म तत्त्व के विषय में इस प्रकार कह देने पर भी हमारे सामने यह प्रश्न रह जाता है कि फिर उसका जीवात्मा अथवा जड़ जगत् से भी क्या सम्बन्ध है और यदि केवल वही एकमात्र है तो इन पदार्थों की भिन्नता की प्रतीति क्यों हो जाया करती है। संत साहित्य के अन्तर्गत ऐसे प्रश्नों के भी उत्तर मिलते हैं और उनका भी कुछ न कुछ सम्बन्ध प्राचीन ग्रन्थों वाली परम्परा से लगा हुआ जान पड़ता है। कबीर साहब ने एक स्थल पर कहा है कि "यह जगत् जैसा दीख पड़ता है वैसा नहीं है, गम्य होने पर भी यह अगम अगोचर के ही अन्तर्गत है[5]। और

---

१ "निराकार के पार थैं, तिन पारहु के पार।" 'प्रगटवानी' (प्राणनाथ)

२ "कहै कबीर हमारै गोव्यंद, चौथे पद मैं जन का ज्यंद।"
(क० ग्रं० पद ३६५, पृ० २१०)

३ "बंक नालि के अंतरै, पछिम दिसा की बाट।
नीझर झरै रस पीजिए, तहाँ भँवर गुफा के घाट रे॥
(वही, पद ४, पृ० ८८)

४ "बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरे तदिहान्तिके च, पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥"
—मुण्डकोपनिषद् (३।७)

५ "जे तुम देखौ सो यहु नाहीं, यहु पद अगम अगोचर माहीं॥"
(क० ग्रन्थ० पद १४१ पृ० १३३)

फिर इसी बात को सन्त सुन्दरदास ने इस प्रकार स्पष्ट किया "बर्तनों के रूप में सर्वत्र मृत्तिका ही मृत्तिका है, किन्तु उसका नाम न ले कर बर्तन कहा जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म एवं जगत् में भी मूलतः कोई अन्तर नहीं है[1]।" जो देखने में सर्वात्मवाद जैसा लगता है। कठिनाई यह है कि यदि सभी ब्रह्ममय ही है और उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं तो वह फिर उसी रूप में हमें क्यों नहीं दीखता ? यह जगत ही क्यों स्पष्ट दिखलाई पड़ता है ? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए सन्तों ने मायावाद का आश्रय लिया है और यह बतलाया है कि सारा जगत् ब्रह्ममय होता हुआ वस्तुतः मिथ्या ही है। कबीर साहब ने इस बात को समझाने के लिए जो दृष्टान्त दिया है वह भी प्राचीन परम्परागत उदाहरणों सा ही लगता है। वे कहते हैं "आंगन में बेल है जिसका फल आकाश में है, यह बिना ब्याई गाय के दूध जैसा है, खरहे के सींग द्वारा निर्मित शृंगी-सा है तथा बन्ध्या स्त्री के पुत्र का रमण करना जैसा भी कहा जा सकता है[2]।" जिससे परिणाम निकाला जा सकता है कि जगत् को हम सत्य और मिथ्या दोनों कह सकते हैं। कबीर साहब ने जगत् को अन्यत्र उस वृक्ष के रूप में भी स्वीकार किया है "जो बिना तने के ही खड़ा है जिसमें शाखा वा पत्रादि कुछ नहीं है और जिसमें बिना फूलों के उगे ही फल लगा करते हैं तथा जिसका विस्तार आठों दिशाओं में दीख पड़ता है[3]।" इस रूपक द्वारा उन्होंने वस्तुतः सृष्टि का भी वर्णन कर

---

१ "मृत्तिका समाइ रही भाजन के रूप माँहि।
मृत्तिका कौ नाम मिटि भाजन ही गह्यौ है॥
—सवैया, अंग ३३ सवैया ४

२ "आँगणि बेल अकास फल, अणब्यावर का दूध।
ससा सींग की धुनहड़ी, रमै बाँझ का पूत॥" (क. ग्रं. सा. ४ पृ. ८६)

३ "तरवर एक पेड़ बिन ठाढ़ा, बिन फूलां फल लागा।
साखा पत्र कछू नहीं वाके, अष्ट गगन मुख बागा॥"
(वही पद १६५ पृ. १४३)

दिया है जो 'श्री मद्भवद्गीता' वाले अश्वत्थ वर्णन के आदर्श पर किया गया कहा जा सकता है। 'गीता' वाला अश्वत्थ वृक्ष ब्रह्म रूप है जिसकी जड़ ऊपर को है, शाखाएँ नीचे की ओर हैं, जिसके पत्ते वेद हैं, जो अव्यय है और जिसे जानने वाला ही वेदवेत्ता कहलाता है। उस वृक्ष से ही वहाँ सत्त्व आदि तीनों गुणों द्वारा पली हुई शाखाओं का चतुर्दिक फैलना बतलाया गया है जिनसे विषय के अंकुर फूटते हैं और जिनकी जड़ें मनुष्य लोक तक बढ़ती हुई कर्मों का रूप धारण कर चली आती हैं तथा उनके प्रत्यक्ष न दीख पड़ने पर भी उन्हें अनासक्ति की तलवार से काटना होता है[1]।" गीताकार का कहना है कि उस वृक्ष को इस प्रकार काट कर फिर उस स्थान को भी ढूँढ निकालना चाहिए जहाँ जाने से फिर लौटना नहीं होता तथा इसके साथ ही यह संकल्प भी करना चाहिए कि मैं उस आद्य पुरुष की ओर जा रहा हूँ जिससे सृष्टिक्रम की इस पुरातन प्रवृत्ति की उत्पत्ति हुई हो।[2] यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि कबीर साहब इस वृक्ष के लिए ब्रह्म का नाम नहीं लेते और न इसके पत्रादि को वेदादि का प्रतीक ही मानते हैं। उन्हें इस प्रकार वर्णन करने की आवश्यकता ही नहीं, क्योंकि वे परमतत्व के अतिरिक्त किसी ऐसी सत्ता की कल्पना नहीं करते जिसे पृथक् 'ब्रह्म' कहा जाय 'गीता' के आठवें अध्याय के आरंभ में प्रश्न किया गया है कि 'ब्रह्म' क्या है?

---

१ "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छंदांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥
अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवाला।
अधश्च मूलान्यनुसंततानि, कर्मानुबंधीनि मनुष्यलोके॥
न रूपमस्येह तथोपलभ्यते, नांतो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढ़ेन छित्वा॥"
—'श्रीमद्भगवद्गीता' अ० १५ श्लो० १-३।

२ "ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी॥" गीता (१५।४)

"'अध्यात्म' क्या है? और 'कर्म' आदि किसे कहते हैं और इसके उत्तर में ब्रह्म को सबसे परम 'अक्षर' अर्थात् कभी भी नष्ट न होनेवाला तत्व कहा गया है और अध्यात्म को प्रत्येक वस्तु का मूलभाव वा स्वभाव ठहराया गया है इस प्रकार अध्यात्म उसे कह सकते हैं जो ब्रह्म के भी परे है और जिसे कभी कभी कदाचित् 'स्वभाव' के ही तुक पर कबीर साहब ने 'सहज' की संज्ञा दी है[2] और उसकी उपलब्धि का होना, तत्वादि से विलग हो जाने पर ही संभव माना है।[3] इस दशा में उक्त तरु अदृश्य हो जाता है।[4] सन्त सुन्दरदास ने भी 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग, उसे 'अध्यात्म' से भिन्न न मान कर ही, किया है। वे सभी कुछ को 'ब्रह्म' शब्द द्वारा ही अभिहित करते

---

१ 'किंतद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।

× × ×

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्म उच्यते।' 'गीता' अध्याय ८ श्लो० १०३

२ 'सत संगति मति मनकरि धीरा,
सहज जानि रामहि भजै कबीरा।' (क० ग्रं० पद ११५ पृ० १२५)

३ 'बिछुरे तत फिरि सहजि समानां, रेख रही नहीं आसा।' वही, पद ४४ पृ० १०२।

४ तरवर एक अनंत मूरति, सुरता लेहु पिछाणी।
साखा पेड़ फूल फल नाहीं ताकी अमृत वाणी॥
पुहुप वास भवरा एक राता, बारा ले उर धरिया।
सोलह मंझै पवन झंकारै, आकासे फल फलिया॥
सहज समाधि बिरष यहु सींच्या, धरती जल हर सोष्या।' इत्यादि
वही पद १६६ पृ० १४३।

दीख पड़ते हैं[१] और इस प्रकार वे उस प्रसिद्ध "सर्वं खल्विदं ब्रह्म" वाक्य की एक विस्तृत व्याख्या मात्र कर देते हैं जो 'छान्दोग्य उपनिषद्' में आया है।[२]

३ ब्रह्मानुभूति—परमतत्वरूपी ब्रह्म के ज्ञान की स्थिति कैसी होती है अथवा आत्मानुभव का रहस्य क्या है, इस बात पर भी सन्तों ने अपने विचार प्रकट किए हैं और इसका वर्णन भी उन्होंने किसी तर्क के आधार पर न करके, उसे अपनी अनुभूति पर ही आश्रित रखा है। 'कोरा ज्ञान' एवं 'अनुभूति' में दोनों पर्यायवाची नहीं हो सकते क्योंकि पहले का प्रयोग जहाँ किसी पदार्थ के बाह्य परिचय के अर्थ में भी हो सकता है और इस प्रकार वह किसी एक साधारण बोध वा जानकारी का अर्थ रखता है वहाँ दूसरा केवल वहाँ प्रयुक्त होता है जहाँ ज्ञेय वस्तु का ज्ञाता उसके विषय में पूर्णतः प्रबुद्ध हो तथा जहाँ वह इसके द्वारा प्रभावित हुए बिना भी न रह सके। इसीलिए, अनुभूति जन्य ज्ञान के लिए बहुधा 'साक्षात् अनुभव' को भी काम में लाया जाता है तथा इसे कभी कभी 'देखना' तक कह दिया

---

१ 'ब्रह्म निरीह निरामयनिर्गुन, नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित है अध ऊरध, बाहिर भीतरि ब्रह्म प्रकासै॥
ब्रह्महि सूक्षम थूल जहां लग, ब्रह्महि साहिब ब्रह्महि दासै।
सुंदर और कछू मति जानहु, ब्रह्महि देखत ब्रह्म तमासै॥२०॥
ब्रह्महि माहि विराजत ब्रह्महि, ब्रह्म बिना जिनि और हि जानौं।
ब्रह्महि कुञ्जर कीटहु ब्रह्महि ब्रह्महि रंकरु ब्रह्महि रानौं॥
कालहु ब्रह्म स्वभावहु ब्रह्महि, कर्महि जीवहि ब्रह्म वषानौं।
सुंदर ब्रह्म बिना कछु नाहिन, ब्रह्महि जानि सबै भ्रम भानौं॥२१॥
सवैया (३२।२०-१)

२ छान्दोग्य उपनिषद (३।१४।१)

जाता है।[1] ब्रह्म का ज्ञान हो जाना उसके अनुभव का ही अभिप्राय रखता है क्योंकि यह विषय ऐसा है जिसका कोई बाह्य परिचय संभव ही नहीं है। कबीर साहब ने इसीलिए एक स्थल पर यह भी कहा है कि "मुझे केवल ऊपरी अथवा कोरे वाचनिक ज्ञान से सन्तोष नहीं। राम की उपलब्धि का तात्पर्य यह है कि उसका पूर्ण परिचय मिल गया हो क्योंकि जो उसे 'देखेगा' वही गा सकेगा और वही तज्जन्य सुख का भी उपभोग करेगा।[2]" वास्तव में वह 'सहज ज्ञान' अथवा अन्तर्ज्ञान (Intuition) के समान है जिसे, यदि हम चाहें तो, दिव्यचक्षु भी कह सकते हैं।

सन्त-साहित्य में उपर्युक्त ब्रह्मानुभूति अथवा सहज ज्ञान को कभी-कभी केवल 'सहज' भी कह दिया जाता है। कबीर साहब ने इस सहज का परिचय देते हुए बतलाया है कि "जिस सहज के द्वारा हमें हरि की उपलब्धि हो जाय वही वास्तविक सहज कहला सकता है।[3]" अथवा "सहज उसे कहेंगे जिसमें हमारी पांचों ज्ञानेंद्रिया एक साथ अनुभव कर रही हों।[4]" आँख जिस समय किसी पदार्थ को देखती है उस समय यह आवश्यक नहीं कि उसे हमारे कान भी सुनें, नाक सूँघे, त्वचा स्पर्श करे तथा उसका स्वाद हमारी जिह्वा लेने लगे। इन सभी के कार्य पृथक्-पृथक् हैं, इसलिए ये पृथक्-पृथक् ही अपने अनुभव भी कर सकती हैं। किन्तु सहज ज्ञान वा सहज की यह एक

---

१ 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' ऋग्वेद (१।२२।२०,) तथ 'यत्तद्द्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं बिभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा :'
मुण्डकोपनिषद् (१।६)।

२ 'ऊपर की मोहि बात न भावै, देखै गावै तौ सुख पावै।
कहे कबीर कछ कहत न आवै, परचै विनां मरम को पावै।'
क० ग्रं० पद २१८ पृ० १६२।

३-४ 'जिन्ह सहजै हरिजी मिलै, सहज कहीजै सोइ।' तथा,
'पांचूं राखै परसती, सहज कहीजै सोई।' वही साखी ४ व २ पृ० ४२।

एक बहुत बड़ी विलक्षणता है कि इसके द्वारा उपलब्ध अनुभूति में वे पांचों ही एक साथ कार्य करती प्रतीत होती है। आश्चर्य तो यह है कि ऐसी दशा में वस्तुतः इनमें से कोई भी प्रत्यक्ष रूप में काम नहीं करती और फिर भी उनकी सम्मिलित अनुभूति का ज्ञान हो जाता हैं। अतएव, सन्त दादू दयाल भी कहते हैं कि "सहज बिना आँखों के ही बिना अंगवाले ब्रह्म को देखना है, उससे विना जिह्वा के ही बात चीत करना है, बिना कानों के भी उसकी बातें सुनना है, बिना चरण के भी उसकी ओर जाना है तथा बिना उनकी किसी आकृति के भी उसका चिन्तन करना है"[1] जो साधारणतः किसी प्रकार भी संभव नहीं कहा जा सकता। फिर भी ऐसा प्रातिभ ज्ञान ही वह स्थिति है जिसमें आ जाने पर साधक को सर्वाधिक आनन्द की उपलब्धि होती है और वह उसमें नितांत विभोर हो जाया करता है। इस दशा का वर्णन करते हुए ही, कदाचित्, 'गीता में' भी कहा गया है। "इस रीति से निरन्तर अपनी आत्मा को उस परमतत्त्व के साथ संयुक्त करके वह पापों से छूट जाता है और योगी ब्रह्म के संस्पर्श से प्राप्त होनेवाले अत्यन्त सुख का आनन्द अनुभव करने लग जाता है।"[2] यहाँ सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि जिस दशा में 'गीता' द्वारा ब्रह्म के संस्पर्श का सुख होना बतलाया गया है उसी के लिए कबीर साहब ने उपर्युक्त 'पांचो राखे परसती' का प्रयोग किया है।

४ सौन्दर्य बोध—सन्तों द्वारा उपलब्ध की जानेवाली स्थिति के आनन्द का रहस्य उनके सौन्दर्य-बोध की भावना में निहित है। हम साधारण ढंग से

---

१ '(दादू) नैनबिन देखिबा, अंगबिन पेखिबा, रसन बिन बोलिबा ब्रह्म सेती, स्रवन बिन सुणिबा, चरणबिन चालिया, चित बिनि चित्यबा, सहज एती।' दादू दयाल की बानी बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, परचाकौअंग, साखी) (४।१६४),

२ युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ॥२८॥
श्री मदभगवद्गीता (अध्याय ६)

समझ लिया करते हैं कि जब किसी वस्तु को सुन्दर कहा जाएगा तो वह उसको देखने से ही सम्बन्ध रखेगा। सौन्दर्य केवल एक रूपात्मक गुण है और उसका बोध केवल चक्षुरिन्द्रिय के ही आधार पर हुआ करता है। हो सकता है कि कभी-कभी हम अपनी श्रवणेन्द्रिय द्वारा प्राप्त होनेवाले अनुभव के सहारे किसी गीत को भी सुन्दर कह दें, किन्तु इस प्रकार के प्रयोग उतने अधिक नहीं हुआ करते। किन्तु सन्तों की उपलब्ध बानियों में हम सौन्दर्य भावना के क्षेत्र को अत्यन्त व्यापक रूप में चित्रित किया हुआ पाते हैं। जिस परमतत्त्व को वे निर्गुण, निराकार तथा अगम और अगोचर तक कह डालते हैं उसकी अनुभूति का संभव होना योंभी समझ के बाहर की बात है। उसके रूप, रस, गन्ध, शब्द अथवा स्पर्श के आधार पर उसके सौन्दर्य का भी वर्णन करने लगना तो आश्चर्य की सीमा को भी पार कर जाता है। परन्तु जब हम सौन्दर्य बोध के मूल कारणों पर कुछ विशेष ध्यान देते हैं तो इस समस्या का हल उतना कठिन नहीं प्रतीत होता। उस दशा में हमें जान पड़ता है कि वास्तविक सौन्दर्य वह नहीं है जिसके आधार पर हम उसकी परिभाषा की ऐसी कल्पना करते हैं। इसका रहस्य कुछ और है जिसका थोड़ा बहुत आभास हमें उपलब्ध सन्त साहित्य के द्वारा भी मिल सकता है।

हमारे चित्त की वृत्तियाँ सदा चंचल रहा करती हैं और वे जितनी ही दौड़-धूप मचाती हैं उतना ही हमें फेर में पड़ जाना भी पड़ता है। वे हमारे भीतर शांति नहीं आने देतीं और न, इस प्रकार, हमें उस जीवन का अनुभव ही हो पाता है जिसे हम अपनी कल्पना के अनुसार आदर्श मानते रहते हैं तथा जिसकी दशा प्राप्त करने के लिए हम सदा प्रयत्नशील भी हुआ करते हैं। प्रायः हम चाहते हैं कि वे किसी केन्द्र विशेष पर टिक सकें और हमें कुछ मानसिक उपराम तक मिल सके, किन्तु वे अपने स्वभाव से कभी विरत नहीं होतीं और हम उनके फेर में पड़ कर निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं और बहुधा ऐसी वासनाओं के अधिकार में भी आ जाते हैं जो हमारे अपने आदर्शों के अनुकूल नहीं पड़ती। योगियों ने, इसी कारण, ऐसे सारे कष्टों को निर्मूल कर डालने के लिए उन चित्त-वृत्तियों के सम्यक् निरोध को ही महत्त्व

प्रदान किया है। वे उन्हें बलपूर्वक, अथवा क्रमिक अभ्यासों द्वारा, खींच कर किसी एक अनुपम वस्तु पर केन्द्रित कर देना चाहते हैं जहाँ वे पंगु हो कर लीन बन जाएँ। जिस प्रकार हम विविध प्रकार के झंझटों में पड़ कर उद्विग्न हो उठने के अनन्तर उस समय कुछ विश्राम वा शान्ति का अनुभव करने लगते हैं जब हमें कोई मधुर संगीत सुनाई पड़ता है अथवा कोई मनोहर वस्तु दीख पड़ जाती है उसी प्रकार की स्थिति उन योगियों की भी हो जाया करती है। हम अपने विश्राम स्थलों पर अपनी चित्तवृत्तियों को केवल कुछ ही क्षणों के लिए रमा पाते हैं जहाँ वे उन्हें अपेक्षाकृत अधिक स्थायी ढङ्ग से निमंत्रित कर लेते हैं और उनके अभ्यासों के बल द्वारा विवश हो कर वे आप से आप शान्त हो जाती हैं।

सौन्दर्य बोध की चर्चा करते. समय एक और भी बात विचारणीय है जो इससे कम महत्त्व की नहीं है। जब किसी सुन्दर वस्तु पर हमारी दृष्टि पड़ती है और आँखें उधर आकृष्ट हो जाती हैं तो हमें कुछ ऐसा अनुभव होने लगता है कि वे उधर फंस गई हैं। उन्हें हमें, कभी-कभी पूरा बल दे कर, उधर से खींचना पड़ता है और वे उस ओर जितना ही अधिक डूबी रहती हैं उतना ही, उन्हें हटाने में, कष्ट भी हुआ करता है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि इन हमारी इन्द्रियों को उक्त सुन्दर वस्तु पर टिकना इतना अनुकूल और सुखप्रद जंचता है कि ये उसमें क्रमशः अधिक से अधिक दूर तक प्रवेश कर जाना चाहती हैं और उसे अपना निजी घर अथवा आत्मरूप तक बना लेना चाहती हैं। इनके उसके साथ तन्मय हो जाने की दशा में स्वयं हमारा मन तक उसमें रमने लग जाता है। पहले तो चक्षुरिन्द्रिय की वृत्ति अपने विषय की ओर केवल अकेली ही उन्मुख होती अथवा स्फुरण करती प्रतीत होती है, किन्तु जैसे-जैसे वह उसमें अधिक से अधिक गहराई तक पहुँचती जाती है, कदाचित् उसी अनुपात के साथ, वह अपना पृथक् कार्य करना भी छोड़ती चली जाती है और उसका सारा व्यापार सीधे मन का बन जाता है जो अन्य सभी इन्द्रियों (अथवा, इसी कारण, उनकी सारी विविध वृत्तियों) का भी मूल उत्स है। इस प्रकार, मन द्वारा उक्त विषय का

सौन्दर्य अपना लिए जाने पर, वह अन्य इन्द्रिय वृत्तियों के लिए भी लगभग एक समान ही अनुकूल जान पड़ने लगता है। मन उस वस्तु के ऊपर अपनी ओर से पूरी आत्मीयता की छाप लगा देता है जिससे उसके प्रति उसे आसक्ति उत्पन्न हो जाती है और हम कहने लग जाते हैं कि हमें उसके लिए प्रेम भाव अथवा अनुराग जागृत हो गया है और तदनुसार हमें उसकी प्रत्येक बात में ही कोई आकर्षण जान पड़ता है। कहा जाता है कि प्रेमी अपने प्रेम पात्र के रूप में एक अनुपम सौन्दर्य का अनुभव करता है, उसकी वाणी में एक अपूर्व माधुर्य पाता है उसके स्पर्शगत अनुभव पर अपने आपको समर्पित कर देता है, उसके श्वासों की गंध तक को अपने लिए वरदान समझता है तथा उसके द्वारा प्रदत्त नीरस और स्वाद रहित वस्तुओं तक में किसी ऐसे विचित्र स्वाद का अनुभव करता है जो अकथनीय है।

इसके सिवाय हम ऐसा भी पाते हैं कि जब कभी हमारी अनुभूति विशेष गहराई तक पहुँच जाती है तो हमें उसके निश्चित बोध की इयत्ता का पता नहीं चलता और न, उसकी मात्रा को समुचित रूप में माप सकने में ही, हम समर्थ होते हैं। यह दशा विशेषरूप से तभी लक्षित होती है जब हमारी उक्त अनुभूति का विषय कोई सौन्दर्य रहा करता है। सौन्दर्यपरक विषय के साथ हमारी तन्मयता यहाँ तक पहुँच जाती है कि हमारी मनोवृत्ति उसमें अपने को खो कर उसीका रूप ग्रहण कर लेती है और जिस प्रकार आँख सभी अन्य पदार्थों को देखती हुई भी स्वयं अपने को ही नहीं देख पाती उसी प्रकार हम, अपने मन के किसी वस्तु में पूर्णतः रमा देने पर भी, उसके विषय के अपने ज्ञान को ठीक-ठीक व्यक्त करने में सर्वथा असमर्थ पाते हैं। हम उसका परिचय देने के लिए उचित शब्द ढूंढने लगते हैं, उसे उपयुक्त न पाकर फिर प्रयास करते हैं और बार-बार ऐसा ही करते चले जाते हैं। एक ओर जहां अपने विषय के सरोवर में हम आचूड़ निमग्न रहते हैं वहां दूसरी ओर उससे पृथक् अवस्थित, तथा अधिकतर उसके रहस्य से अपरिचित, व्यक्ति के प्रति हमें उसका ऐसा पता देना पड़ता है जो इस दूसरे के लिए बोधगम्य हो। न तो हम इसे अपनी दशा में ला पाते हैं और न

उससे बाहर आ कर यहां की परिचित शब्दावली में इससे बातें हो कर पाते हैं। फलतः हमारी दशा उस समय उस गूंगे के भी समान हो जाती है जो गुड़ खा कर उसके मधुर स्वाद का अनुभव तो करता है, किन्तु उसका समुचित पता किसी और को भी नहीं दे पाता।

यह कथन उन साधारण स्थितियों के विषय में किया जा सकता है जिनमें अनुभव की वस्तु कोई न कोई भौतिक पदार्थ रहता है; जब वह हमारे लिए देखने, सुनने, स्पर्श करने, स्वाद लेने अथवा सूंघने के योग्य होती है और जो न्यूनाधिक प्रत्यक्ष कही जा सकती है। परन्तु जो विषय अभौतिक हो, जिसको नाम तक देना कठिन प्रतीत हो रहा हो तथा जिसे हम स्वयं निर्गुण, निराकार एवं अगम अगोचर तक बतला रहे हों उसके अनुभव का परिचय किस प्रकार दिया जाय, यह कोई साधारण प्रश्न नहीं है। यह समस्या उस समय और भी अधिक विकट हो जाती है जब हमें उसके सौंदर्य का वर्णन करना पड़ता है। संतों ने, इसी कारण, उसका पता, अधिकतर किसी ज्योतिष्पुंज अथवा अनाहत शब्द के प्रतीकों द्वारा, देने का प्रत्यन किया है और, योग साधना की चर्चा करते समय, कभी कभी इसके लिए किसी अपूर्व अमृत स्राव का भी सहारा लिया है। ऐसी दशा में वे परमतत्त्व के सौंदर्य का अनुभव क्रमशः अपनी चक्षुरिंद्रिय, श्रवणेंद्रिय अथवा रसनेंद्रिय द्वारा करते हुए समझे जा सकते हैं। किन्तु जब कभी वे किसी ऐसे आधार का आश्रय नहीं ग्रहण करते और फिर भी उसके विषय में अपनी उपलब्ध अनुभूति का वर्णन करते हैं तथा ऐसा करते समय वे अपने को सौंदर्य बोध की स्थिति में भी प्रदर्शित करना चाहते हैं उस समय की उक्ति केवल तभी समझ में आ सकती है जब हम सभी उपर्युक्त बातों पर भी विचार कर लें और इस बात की भी धारणा बनालें कि सौंदर्य वस्तुतः हमारी वाह्य ज्ञानेंद्रियों का ही विषय नहीं है। सौंदर्य का बोध हमें कहीं भी हो सकता है जहाँ हमारे चित्त की वृत्तियाँ रम सकें और जिसका अनुभव, इसी कारण हमें अपने अनुकूल एवं सुखद प्रतीत हो। इस विचार से हमारे लिए किसी व्यक्ति का सदाचरण भी सुन्दर लग सकता है और कोई भाव तक अनुपम सौंदर्य का

बोधक बन सकता है। अतएव संतों की सौंदर्य भावना तत्त्वतः उस अनुभूति के साथ संबन्ध रखती है जो, उपनिषदों के अनुसार, आत्मदृष्टि पर आश्रित है और जो परम गति भी है।

५ सामाजिक व्यवस्था—सन्तों की व्यक्तिगत साधना तथा उनकी निवृत्ति परक उक्तियों के आधार पर कहा जा सकता है कि वे सामाजिक व्यवस्था के प्रति उदासीन थे और वे यदि इस विषय में कभी अपना मत भी प्रकट करते थे तो वह अधिकतर उसके प्रतिकूल ही पड़ता था। उनका लौकिक जीवन की अपेक्षा आध्यात्मिक जीवन को ही अधिक महत्त्व देना भी इसी प्रकार की धारणा का समर्थन करता है। परन्तु ऐसा समझ लेना उन महापुरुषों के प्रति अन्याय करना ही कहा जा सकता है जिन्होंने अपनी रचनाओं का एक बहुत बड़ा अंश सामाजिक अव्यवस्था, अनैतिकता तथा अनावश्यक विडम्बनाओं के विरोध में ही निर्मित किया है तथा जिन्होंने परलोकवाद की खरी आलोचना तक कर डाली है। कबीर साहब ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है "परमात्मा ने ही स्वयं यह उचित समझा कि जो कुछ कबीर ने अनुभव किया है उसे अपनी साखियों द्वारा प्रकट करदे जिससे जो कोई भी मनुष्य संसार सागर में मग्न हो वह उनके सहारे पार हो जाय,[2]" वे अपने विषय में यह भी बतलाते हैं कि "मुझे निर्वाण की उपलब्धि तभी हुई है जब मैंने, अपने और पराये में भेद न रख कर, सबके साथ एक समान व्यवहार करने का अभ्यास कर लिया है।[3]" संत साहित्य के अंतर्गत हमें सर्वत्र सामाजिक विषमता का घोर विरोध मिलता है और इसके साथ साम्य भाव की प्रतिष्ठा

---

१ यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम्।' कठोपनिषद् (२।६।१०)।

२ 'हरिजी यहै विचारिया, साषी कहौ कबीर। भौसागर में जीय हैं, जे कोई पकड़े तीर।' क. ग्र. सा० १ पृ० ५६।

३ 'आपापर सब एक समान, तब हम पाया पद निर्वान।'
वहीं, पद १६७ पृ० १४४।

भी दीख पड़ती है। इसके सिवाय सब कहीं इसमें नैतिक आचरण एवं कथनी और करणी के बीच पूर्ण सामंजस्य का उपदेश भी मिलता है जो किसी भी मानव समाज को सुव्यवस्थित रूप में बनाये रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। संतों की साम्य भावना का मूल आधार उनके द्वारा सभी प्राणियों के एक ही परमात्मा से उत्पन्न होने के प्रति आस्था है जो सभी को और परमात्म रूप में देखने का भाव भी जागृत कर देती है।

कबीर साहब की रचनाओं को पढ़ने पर पता चलता है कि मानव समाज की आर्थिक व्यवस्था के विषय में भी उनका एक आदर्श था। वे समाज की आर्थिक विषमता को बहुत अधिक महत्व न देकर उसको परमात्मा का एक साधारण खेल सा मान लेते थे। उनका स्पष्ट कहना था "निर्धन एवं धनवान् दोनों भाई-भाई हैं और उन में जो अन्तर दीख पड़ता है वह प्रभु का नित्य कौतुक मात्र है।[1]" वे इसीलिए ऐसी बातों के लिए चिन्तित होने की जगह संतोष कर लेने को ही अधिक अच्छा समझते थे और न तो इसके लिए किसी से ईर्ष्या करना चाहते थे और न भिक्षा मांगने को ही उत्साहित करते थे, प्रत्युत इस बात को अपमानजनक तक माना करते थे। उनका कहना है "जब कभी कोई अपना हाथ कुछ मांगने के लिए फैलाता है उस समय उसके सभी सद्गुण जैसे मान, महत्व, स्नेहादि उसे शीघ्र छोड़ दिया करते हैं।[2]" इसीलिए वे अपने द्वारा स्वयं उपार्जित द्रव्य के आधार पर सीधा सादा जीवन व्यतीत करने के अधिक पक्षपाती थे जो प्राचीन भारतीय जीवन का भी आदर्श रहा। उन्होंने अपने लिए भी परमात्मा से यही मांग की है "हे भगवान् भूखे रहने से तुम्हारी

---

१ 'निरधन सरधनु दोनऊ भाई। प्रभु की कला न मेटी जाई।।'

आ० ग्र० रागम रेऊ, ८

२ 'मानि महातम प्रेम रस, गरवातणगुण नेह।
ए सबही अहलागया, जब ही कसा कुछ देह।।'

क० ग्र० सा० १४, पृ० ५६

भक्ति का होना असम्भव है और मैं किसी से लेना भी नहीं चाहता, इसलिए केवल इतना ही चाहूँगा, मुझे नित्यप्रति दो सेर आटा मिल जाया करे, उसके साथ पाव भर घी रहे और नमक भी रहे तथा आधा सेर दाल भी मिल जाय जिस से दोनों समय का भोजन चल सके, इसके अतिरिक्त, सोने के लिए एक चारपाई हो जिस पर एक तकिया और रूई से भरा कोई गद्दा भी हो तथा ओढने के लिए ओढनी हो जिससे सारा काम चल जाएगा।[1]" कबीर साहब तथा अन्य संतों ने भी गार्हस्थ्य जीवन के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं रखा और उनमें से अधिकांश पारिवारिक वातावरण में रहकर भी साधना करते रहे। वास्तव में वे अपनी साधना को आदर्श जीवन की ही साधना मानते थे जिसका आदर्श यथासाध्य सर्वांगीण विकास का था।

(ग) साधनात्मक।

संत-साहित्य का महत्त्व चाहे उसमें निर्दिष्ट किसी दार्शनिक मत के कारण न भी हो, उसमें निहित साधनात्मक संकेतों के लिए तो अवश्य होगा, संतों ने न केवल किसी परम्परागत साधना को अपना कर उसके अनुसार जीवन यापन करने का कोरा उपदेश दिया, अपितु उन्होंने ऐसी उपयोगी साधनाओं को स्वयं अपने जीवन में परख कर उनका मूल्याकन भी किया तथा, अपने निजी अनुभव में उनके पूर्णतः खरी उतर जाने पर ही, उन्होंने दूसरों को भी सुझाव दिया कि वे उन्हें अपने जीवन में भी काम में लाकर उनकी परीक्षा करलें। वे बराबर यही कहते दीख पड़ते हैं "किसी बात को तुम तब तक स्वीकार न करो जब तक उसे स्वयं भी न आजमा लो।" विषय का केवल किसी धर्म ग्रन्थ में ही आ जाना अथवा उसका किसी बड़े-से-बड़े पुरुष द्वारा अपना लिया जाना मात्र ही उसके महत्त्व की कसौटी नहीं। संभव है कि वे बातें अक्षरशः ठीक हों और हमारे अनुभव में भी वे उसी प्रकार ठीक उतरें। किन्तु जब तक यह भी संभव है कि सत्य से पूर्णतः अवगत होने की कोई अंतिम

---

१ आ० ग्र० रागु सोरठि पद ११

गारंटी नहीं दी जा सकती और न उसकी उपलब्धि का केवल कोई एक ही मार्ग हो सकता है तब तक इस विषय से संबन्ध रखने वाली कोई भी धारणा काम चलाऊ मात्र ही कही जायगी और तदनुसार स्वीकृत साधना भी प्रयोग मात्र समझा जायगा। हो सकता है कि जिस निर्णय पर हमारे पूर्व पुरुष पहुँच चुके हैं और जिस मार्ग से वे इसके लिए कभी अग्रसर हुए थे वे दोनों हमारे जीवन में भी उसी रूप में काम देते सिद्ध हों, किन्तु यह असंभव नहीं कि उक्त निर्णय तथा उक्त मार्ग सभी दूसरों के अनुभवों में वैसे ही नहीं दीखेंगे और जब तक इस प्रकार की संभावना बनी हुई है तब तक किसी बात को शाश्वत एवं सार्वभौम सत्य मान बैठना ठीक नहीं। हमें यों भी दीख पड़ता है कि कोई भी व्यापक से व्यापक सिद्धांत जिसे स्वीकार करते हमें कोई अड़चन प्रतीत नहीं होती और जो हमें स्वयं सिद्ध सा लगा करता है उसके तथ्य होने में कभी कभी संदेह प्रकट कर दिया जाता है और मार्गों का अनुसरण, उन्हें ठीक जान कर, हम शताब्दियों से करते आ रहे हैं उन्हें, विभिन्न परिस्थितियों की दृष्टि से, हमें कुछ न कुछ परिवर्त्तित कर देना पड़ता है। अतएव, ऐसी दशा में यदि हम किसी बात को अपने आप भी परख लें और उसे अपने जीवन के भीतर ला कर उसे सर्वथा व्यावहारिक रूप भी दे लें तो इसमें हानि ही क्या है। जो बात किसी दूसरे के अनुभव की होती है और जिसे केवल उसके कथन में विश्वास करके ही ग्रहण कर लेते हैं वह प्रायः हमारी अपनी नहीं हो पाती और यदि संबन्ध में कभी कोई कठिनाई आ पड़ती है तो हम उसे भली भांति दूर भी नहीं कर पाते। किन्तु अपने निजी चिन्तन तथा अनुभव की बात प्रारंभ से ही अपनी बनी रहती है और उसकी गुत्थियों को सुलझाते समय हमें परमुखापेक्षी नहीं होना पड़ता और न उसके संबन्ध में छोटी मोटी भूल करके भी हम कभी कोई हानि उठाते हैं।

सन्तोंने जिस प्रकार दार्शनिक होने का दावा नहीं किया उसी प्रकार न तो उन्होंने यही कहा है कि मैंने अन्तिम सत्य को पूर्ण रूप में पा लिया है और न यही उपदेश दिया है इसके लिए कोई साधना विशेष ही सर्वथा उपयुक्त हो सकती है, दूसरी नहीं और तुम केवल इसे ही अपनाओ, उन्होंने

इस सम्बन्ध में केवल अपने अनुभवों पर आश्रित बातें ही कही हैं और दूसरों को भी अपना अनुभव कर लेने का परामर्श दिया है। वे परमतत्व को बार बार अगम और अगोचर कहते हैं और तद्विषयक निजी अनुभूति में दृढ़ता लाने के लिए नामस्मरण की साधना करते रहते हैं। वे इतना अवश्य बतला देते हैं कि जो दशा, सत्य की उपलब्धि हो जाने पर, हमारे आदर्शानुसार, संभव है उसकी हमें प्राप्ति हो गई है और ऐसा कह कर वे अपना आभ्यन्तरिक आह्लाद भी प्रकट करने लग जाते हैं, किन्तु वे, इसके साथ, यह भी स्वीकार करते हैं कि वह स्थिति वैसी स्थायी नहीं है। उनकी रचनाओं में हमें इस बात का संकेत बार बार मिला करता है कि वह वस्तु जिसे वे अपना अभीष्ट मानते हैं और जिस की प्राप्ति हो जाने पर वे फूले नहीं समाते वह प्रायः उन से दूर भी हो जाया करती है जिसके कारण उन्हें बार-बार विरहातुर होता रहना पड़ता है। जैसे किसी अलभ्य वस्तु को हम किसी प्रकार, बड़े परिश्रम के उपरान्त प्राप्त करें और वह ऐसी हो जिसको संभाल कर सुरक्षित रखना उससे भी अधिक दुष्कर हो और इसी कारण, वह हमारे हाथ से बारबार निकल जाया करती हो और हम उसके लिए बेचैन हो जाते हों वैसी ही दशा इन सन्तों की भी जान पड़ती है। फिर भी इतना निश्चित है कि वे उसे उसके केवल अपने अनुभव पर ही आश्रित रहने के कारण, पूरे आत्म विश्वास और हृदय की सचाई के साथ, बार-बार संभालते रहते हैं और वे अपनी उस दशा में भी संतोष रखते हुए, इसके अनुसार दूसरों को भी अभ्यास करने की सलाह देते हैं। उन्हें इस बात में पूर्ण विश्वास है कि उन्हें सत्य के अनुरूप जीवन के यापन करने का मार्ग अवश्य सूझ गया है और उसका अनुसरण करना औरों के लिए भी श्रेयस्कर हो सकता है। परन्तु उसे वे किसी के ऊपर बलात्कार से लादने का प्रयत्न नहीं करते, प्रत्युत उन्हें भी वे विचार स्वातंत्र्य का वही अधिकार देना चाहते हैं जिसका उन्होंने स्वयं उपयोग किया है तथा जो उनके जैसे कथन एवं आचरण करनेवाले सभी के लिए सर्वथा सुसंगत कहा जा सकता है।

१ विचार-स्वातंत्र्य—सन्तों की जीवन साधना में जो सबसे प्रमुख विशेषता

दीख पड़ती है वह विचार-स्वातंत्र्य को भी समुचित महत्त्व देने की है और जिसकी पुरानी परम्परा प्राचीन वैदिक युग से भी, किसी न किसी रूप में, निरंतर चलती आई है। वैदिक साहित्य को पढ़ने से पता चलता है कि उसकी रचना के समय वाले भारतीय अधिकतर यज्ञों का अनुमान करते थे और, कतिपय भव्य एवं मनोहर प्राकृतिक प्रतीकों को उद्देश्य करके, उनका स्तुतिगान भी किया करते थे। वैदिक साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश उनकी इन्हीं दो प्रकार की साधनाओं के विस्तृत वर्णनों से भरा पड़ा है। उसके अन्य स्थलों पर भी इनकी बहुत सी बातें प्रसंग वश आ जाती हैं। इन प्राकृतिक वस्तुओं को वे पहले देवोपम भाव से देखा करते थे, किन्तु पीछे इन में उनका ईश्वरोपम भाव तक आ गया और, इस प्रकार, इनके प्रति बाह्य विधानों के ही फेर में पड़े रहने के कारण, उन्होंने किसी आचरण-प्रधान जीवन की ओर से उपेक्षा दिखलाई। तदनुसार उन दिनों के भारतीय समाज में क्रमशः कर्म-कांड की प्रधानता हो चली। प्राकृतिक वस्तुओं के विषय में पीछे केवल यही एक प्रमुख सुधार हुआ कि उनकी विविधता के कारण जो बहुदेववाद का भाव आ गया था वह क्रमशः एकदेव वाद में परिणत हो गया और इसके कारण, यज्ञानुमानों के समानांतर ही, उस एक मात्र देव स्वरूप का निर्णय भी किया जाने लगा।

इस प्रकार के कर्म कांड में व्यस्त रहने वाले अथवा चिन्तन करने वाले विशेष कर वे लोग थे जिन्हें क्रमागत साधना अधिक प्रिय थी, जिन्हें अपनी जीवन-पद्धति में किसी प्रकार का परिवर्तन लाना पसंद न था और जो परम्परा का पालन अपना कर्तव्य समझते थे। परन्तु इनके अतिरिक्त कुछ लोग और भी थे जिन्हें यज्ञ, देव पूजन वा पितृ पूजन की प्रथाओं में कोई आस्था नहीं थी। ऐसे लोगों के लिए कहा गया है कि वे प्रायः वायु के आधार पर अपना जीवन व्यतीत करते थे, मटमैले वस्त्रादि धारण करते थे और मननशील थे।[१] इनमें से कुछ के लिए ऐसा भी कहा जाता है कि वे किसी

---

१ "मुनयो वातरशना पिशङ्गा वसते मला—ऋग्वेद (१०-१३६-२)

प्रकार की तपश्चर्या भी किया करते थे और श्रम पूर्वक साधना करके मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेना उनका उद्देश्य था।[१] इसके सिवाय कुछ ऐसे लोगों का भी पता चलता है कि वे किसी अरूप वस्तु के चिन्तन में लगे रहते थे तथा उक्त प्रकार के यज्ञादि अनुमानों से न केवल अलग रहते थे, अपितु अपने एकाग्र ध्यान एवं अभ्यास के सामने उन्हें व्यर्थ और हेय तक समझा करते थे। उनके अपने व्यक्तिगत आदर्श थे, अपनी साधना थी और अपनी रहन सहन थी जिसे, उक्त वैदिक कृत्यों में लगे रहने वाले, आर्य ठीक नहीं समझते थे। और वे इन्हें अपने समाज से बहिष्कृत तथा अपने लिए विहित संस्कारों के अनधिकारी मानते थे। वेदों के प्रसिद्ध भाष्यकार सायण ने इनके विषय में लिखा है कि "ये लोग उपनयनादि से हीन मनुष्य थे जिन्हें 'व्रात्य' भी कहते थे और इन्हें वैदिक कृत्यों के लिए अनधिकारी तथा सामान्यतः पतित तक माना जाता था। परन्तु यदि कोई व्रात्य ऐसा हो जो विद्वान् और तपस्वी हो तो, ब्राह्मण उससे भले ही द्वेष करें, वह सर्वपूज्य होगा और वह देवाधि देव परमात्मा के तुल्य तक होगा।"[२] और इस कथन के साथ उन्होंने 'अथर्ववेद' के 'व्रात्य कांड' का भाष्य करना भी छोड़ दिया है।

व्रात्य स्वयं भी अपने को परम्परागत विधि निषेधात्मक बन्धनों से मुक्त समझा करते थे, इस कारण, 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग दिक्कालादि से अनवच्छिन्न गुणातीत परमात्मा के लिए भी हुआ करता था। 'अथर्ववेद' का 'व्रात्य कांड' इस प्रकार के दोनों ही अर्थों में 'व्रात्य' शब्द का प्रयोग करता जान पड़ता है जिस कारण उसके मन्त्रों के समझ पाने में अनेक विद्वानों को

१ "येनातरन्भूतकृतोति मृत्युं यमन्वविन्दन्तपसा श्रमेण" —अथर्ववेद (४।३५।२)

२ "व्रात्यो नाम उपनयनादि संस्कारविहीनः पुरुषः सोऽर्थाद्वेदविहिताः यज्ञादिक्रियाः कर्तुं नाधिकारी। न स व्यवहारयोग्यश्चेत्यादि जनमतं मनसिकृत्य व्रात्योऽधिकारी व्रात्यो महानुभावो व्रात्यो देवप्रियो ......किंबहुना व्रात्यो देवाधिदेव एवेति"—सायण भाष्य।"

भी भ्रम हो जाया करता है। वहाँ पर कहा गया है कि "व्रात्य ने गतिमान् हो कर प्रजापति को प्रेरित किया।[1] वह 'एक व्रात्य' हो गया, उसने धनुष धारण किया और वही इन्द्र धनुष है।[2]" "जिस प्रकार ग्रह नक्षत्र एवं ऋतुएँ संवत्सर के समीप रहती हैं उसी प्रकार सभी देवगण उस व्रात्य के चारों ओर रहा करते हैं।[3]" तथा "उस व्रात्य की जो दाहिनी आँख है वह आदित्य है जो बायीं है वह चन्द्रमा है, जो उसका दाहिना कान है वह अग्नि है जो बायाँ है वह पवन है, दिन रात नासिका हैं, दिति और अदिति सिर के दोनों कपाल हैं और संवत्सर सिर है।[4]" इसीलिए इस कांड के अन्त में "दिन के पश्चात् व्रात्य एवं रात्रि से पूर्व व्रात्य को प्रणाम[5] भी किया गया है। किन्तु उसमें अन्यत्र इस प्रकार भी आता है "जिस राजा के घर ऐसा विद्वान् व्रात्य अतिथि बन कर आए वह इसके आगमन को अपने लिए कल्याणकारी माने,[6]" "यदि वह किसी के भी घर आ जाए तो वह स्वयं उसके सामने जा कर कहे, व्रात्य, आप कहाँ रहते हैं? व्रात्य जल ग्रहण कीजिए, भोजनादि से तृप्त हों, जैसा आपको प्रिय हो, जैसी आपकी इच्छा हो, जैसी आपकी अभिलाषा हो, वैसा

---

१ 'व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्' अथर्ववेद (१५।१।१।१)

२ 'स एकव्रात्योऽभवत् स धनुरादत्त 'तदेवेन्द्रधनुः' वही (१५।१।१।६)

३ 'तस्य व्रात्यस्य। समानमर्थं परियन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोनु परियन्ति व्रात्यं च'-वही (१५।२।१०।८)

४ यदस्य दक्षिण मक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमा।
योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोयं स पवमानः
अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः॥
वही (१५।२।११।२-४)

५ "अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय"—वही, (१५।२।११।५

६ "तद् यस्यवं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्। श्रेयांसमेन मात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते"—
वही, (१५।२।३।१२)

ही हो ।[1]" और ऐसा करनेवाले का कल्याण होता है और उसकी अभिलाषाएँ भी पूरी हो जाती हैं। इस विषय में वहाँ पर यहाँ तक बतलाया गया है कि "यदि किसी के घर पर ऐसा व्रात्य विद्वान् अग्निहोत्र का आरंभ हो जाने पर, अतिथि हो कर आए तो वह स्वयं उठ कर उसके सम्मुख आए और कहे 'व्रात्य आप आज्ञा दें तो मैं आग्निहोत्र करूँ ।[2]" तथा "यदि वह आज्ञा दे तो हवन करे, आज्ञा न दे तो न करे ।[3]" इस प्रकार एक महापुरुष के रूप में व्रात्य की प्रतिष्ठा यहाँ तक की जाती है कि, उसके विधि निषेधादि से पृथक् और उपनयनादि संस्कारों से विहीन होने पर भी वह अग्निहोत्रादि जैसे वेद-विहित कर्मों तक के करने वा न करने के विषय में, अनुमति प्रदान करनेवाला माना जाने लगता है। अतएव, संभव है कि उनके प्रति इस प्रकार का उच्च व्यवहार उनके विचार स्वातंत्र्य एवं तज्जन्य सच्चरित्रता के ही कारण किया जाता होगा।

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'व्रात्य' शब्द कुछ विद्वानों की दृष्टि में किसी जाति या सम्प्रदाय विशेष का बोधक भी समझा जाता है। राजाराम रामकृष्ण भागवत नामक एक लेखक ने इस विषय पर चर्चा करते हुए लिखा है। "ब्राह्मण द्वारा किए गए स्पष्ट चित्रण से भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि 'व्रात्य' शब्द मूलतः किसी अनार्य जाति वा जातियों का बोध करता था। इन लोगों के सिर पर धूप से बचने के लिए कोई परिच्छद होता था और ये श्वेत वस्त्र पहना करते थे जिनकी धारियाँ काली थीं; ये चाँदी की मुद्रा का

---

१ तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् । स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीः व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथाते प्रियं तथास्तु'"— अथर्ववेद (१५।११।१-२)।

२ "तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्य सुद्रतेष्वग्निष्व धिश्रितेऽग्निहोत्रेऽतिथिगृहान् आगच्छेत् स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्यातिसृज होष्यामीति"
वही (१५।१२।१-२)।

३ "सचातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्त जुहुयात् ।"—वही (१५।१२।५।३)।

व्यवहार करते थे और रंगीन जूते पहनते थे, इस कारण इन्हें जंगली नहीं कहा जा सकता...जब हम ब्राह्मण ग्रन्थों से सूत्र साहित्य तक आते हैं तो पता चलता है कि व्रात्यों का समाज तीन कोटियों को स्वीकार करता था जिन में से एक शिक्षितों का वर्ग था, दूसरा उच्चकुलोत्पन्न का था और तीसरा धनियों का था और इन तीनों का स्तर ऊँचा समझा जाता था, किन्तु ये तीनों ही सर्वसाधारण के साथ मिल कर प्रायः वैदिक मत के अनुसरण करनेवालों को अभिभूत कर देने की चेष्टा किया करते थे ।" जिससे स्पष्ट है कि यह शब्द किसी वेदशास्त्रादि विरोधी समाज का बोधक रहा होगा तथा इससे यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि ऐसे लोग परम्पराविहित विधि निषेध की परवाह न करके विचार-स्वातंत्र्य को ही अधिक महत्त्व देते होंगे और अपने इस व्यवहार के कारण वैदिक मतवालों के लिए उनके प्रतिद्वन्द्वी तक जान पड़ते होंगे ।

'व्रात्य' शब्द का 'अथर्ववेद' के अन्तर्गत व्यवहार हो जाने से भी कहा जा सकता है कि यह एक प्राचीन शब्द है । परन्तु, जैसा उस ग्रन्थ में

---

1 "The graphic discription of the Brahman clearly establishes that the word Vratya originally denoted some non Aryan tribes. As these non-Aryan tribes had a covering for the head to keep the sum off and were clad in white garments, with black borders, and had a silver currency and painted shoes, they cannot be said to have been savages....when we come down from the Brahman to the sutra we find that the society of the Vratya acknowledged the three grades of the educated the high born and the wealthy, which perhaps formed its upper classes of which at times, with the masses, made attempt to over whelm the followers of the Vedas"—J. B. B. R. A. S. Vol XIX P. 363

आए हुए वर्णनों से भी पता चलता है, इसका अर्थ सदा एक ही प्रकार का नहीं समझा जाता रहा। 'आपस्तम्ब धर्मसूत्र' के अनुसार यह, पीछे 'व्रत' शब्द के आधार पर बना हुआ समझा जाने लगा और इसका प्रयोग किसी व्रती श्रोतिय के लिए होने लगा[1], किन्तु बोधायन ने इसे किसी संस्कार-विहीन पुरुष के पुत्र का ही बोधक माना[2] और 'मनुस्मृति'[3] एवं 'विष्णु धर्म पुराण'[4] के अनुसार, इसे उस पुरुष का वाचक समझा गया जिसने संस्कार की विधियों का पालन, उनके उपयुक्त समय पर, नहीं किया हो। 'महाभारत' ने व्रात्यों को ऐसे लोगों में गिना है जो आग लगाने वाले, विष देने वाले, व्यभिचारी मद्यपी आदि कहलाते हैं और पीछे इस शब्द का व्यवहार उनके लिए भी किया गया है जो वर्णसंकर हैं—जो या तो क्षत्रिय पिता एवं शूद्रा माता से उत्पन्न हैं अथवा क्षत्रियों की ही जारज संतान हैं।[6] वोहट्लिंक तथा राथ ने अपने कोश में इस शब्द का अर्थ एक पुण्यशील पर्यटक अथवा धार्मिक परिव्राजक बतलाया है[7] तथा यह शब्द अभी आज तक मराठी में किसी उस नटखट व्यक्ति के लिए प्रयोग में आता है जिसका नियन्त्रण कठिन है और जो सदा खेलवाड़ किया करता है जो बहिष्कृत है।[8] डा० ए. पी. करमरकर ने इस प्रकार की सामग्रियों का गम्भीर अध्ययन करके उसका यहाँ तक परिणाम निकाला है कि व्रात्यों की

(१) आपस्तम्ब २।३७।१३।७)।

(२) बोधायन धर्मसूत्र (१।८)।

(३) मनुस्मृति (२।३०)।

(४) विष्णुधर्म पुराण (३।२३३।७२)।

(५) महाभारत (३५।४६।१२२७)।

(६) वही (३८।१०)।

(७) St. Pitersbery Lesson VI 1503

(८) मराठी से हिन्दी शब्द संग्रह
(ग० र० वैशंपायण, पुणें, १६४१) पृ. ४५६

सभ्यता का सम्बन्ध मोहेन जोदड़ो कालीन सभ्यता के साथ रहा होगा और इसके समर्थन में उन्होंने डा० डी. आर. भांडारकर के मत की भी चर्चा की है ।[1]

अतएव, व्रात्यों के प्रसंग को यहाँ केवल इसलिए महत्व दिया जा सकता है कि वैदिक युग से अथवा कदाचित् उसके पहले से भी ऐसे लोगों की कमी नहीं थी जो उस काल के विहित कर्मकाण्ड के प्रति न केवल उपेक्षा का भाव रखते थे, प्रत्युत उसका विरोध तक कर सकते थे। यदि ऐसे लोगों का कोई अपना साम्प्रदायिक मत रहा होगा तो वह निश्चय ही वैदिक आर्यों के मत से भिन्न रहा होगा। परन्तु यह भी सम्भव है कि उनका अपना समाज किसी संगठित रूप में न हो और वे अधिकतर विचार स्वातन्त्र्य से ही काम लेते हों। आर्यों की तात्कालीन सामाजिक व्यवस्था द्वारा पूर्णतः प्रभावित न होकर अपने निजी ढंग से ही जीवन-यापन करने का प्रबन्ध करना, इसके कारण आर्यों द्वारा संस्कार-विहीन, जाति बहिष्कृत अथवा पतित तक कहलाया जाना आदि बातें उनके विचार-स्वातन्त्र्य की ही द्योतक हैं। इन व्रात्यों के सम्बन्ध में हमें अभी तक पूरी सामग्री उपलब्ध नहीं है और उनका कामचलाऊ परिचय देने के लिए हमें, अनेक बिखरे हुए सूत्रों को एकत्रित करके, उनके आधार पर अनुमान करना पड़ता है जो स्वभावतः विवादग्रस्त सा भी बन जाया करता है। किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि, वैदिक साहित्य की रचना के समय से ही, उस काल की धार्मिक व्यवस्था की खरी आलोचना होने लगी थी। यज्ञों के अनुष्ठान का विरोध करने वालों का कहना था "ये यज्ञ वास्तव में छोटे छोटे डोंगों की भाँति केवल निर्बल साधन हैं जिनके द्वारा कल्याण का होना कभी निश्चित नहीं कहा जा सकता, और इन पर भरोसा रखने वाले मूर्खों को, कर्म फल के क्षीण होते ही, फिर एक

---

(1) A. P. Karmarkar : Tne Vratya or Dravidian, systems (The riligions of India Vot I, Lonavla 1950) P. 19

बार जरामरण के चक्कर में आ जाना पड़ता है।"[1] और ऐसे आलोचकों में से ही कुछ वे लोग भी थे जो ईश्वर प्राप्ति अथवा मोक्ष की जगह केवल सांसारिक दुखों की निवृत्ति मात्र चाहते थे और जो, अन्त में सांख्य के ज्ञानवाद के लिए पथ प्रदर्शक बने।

इसके सिवाय वैदिक साहित्य में ही हमें, नैतिक आधार पर आचरण को महत्त्व देनेवालों के भी एक वर्ग का पता चलता है। ऐसे लोग यह समझते थे कि प्रत्येक मनुष्य को अपने किए का ही अच्छा व बुरा फल भोगना पड़ता है, इसमें देवों का कोई हाथ नहीं, तथा यदि हम चाहें तो अपने धर्म एवं सदाचरण के बल पर उन्हें अपने अपने स्थान से डिगा भी सकते हैं। इस सदाचरण के लिए निवृत्ति मार्ग की आवश्यकता नहीं, प्रत्युत गृहस्थाश्रम की दिशा में रह कर भी हम इसकी साधना कर सकते हैं। "जो इसके अनुसार रह कर सन्तानोत्पत्ति करते हैं तथा तप एवं संयम के साथ जीवन यापन करते हैं और सत्य को अपना नैतिक आधार मान कर चलते हैं वे ही वास्तव में ब्रह्मलोक के अधिकारी हैं।[2]" अथवा सत्य, सुकृत एवं सदाचरण को ही परम धर्म की आधार-शिला कह सकते हैं प्रत्यक्ष है कि ऐसे लोगों को भी यज्ञादि के अनुष्ठानों के प्रति कोई आस्था न रहती होगी और न ये इसी कारण वेदादि को विशेष महत्त्व देते रहे होंगे। इन प्रवृत्ति मार्गियों तथा उपर्युक्त निवृत्ति मार्गियों का जीवन-पद्धति के निर्माण की ओर जितना ध्यान रहता होगा उतना इस बात के प्रति नहीं कि कौन-सी अनुष्ठान-विधि का हम विहित नियमानुकूल निर्वाह करें जिससे देवगण प्रसन्न हों।

---

१ प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढ़ा, जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति॥
मुंडकोपनिषद् (१-२-७)

२ तद्येह वै तत्प्रजापति व्रतं चरन्ति ते मिथुनमुत्पादयन्ते।
तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्॥
प्रश्नोपनिषद् (१।१५)।

वास्तव में किसी ऐसे देवगण की कृपा के ऊपर अवलंबित रहना वे कभी उचित भी नहीं समझते रहे।

'ऋग्वेद' के 'केशीसूक्त'[1] में कुछ ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि उसकी रचना के समय कुछ लोग एक विशेष प्रकार का जीवन-यापन करते थे और इसके आधार पर अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे लोग ही उस श्रमण परम्परा के जन्म दाता रहे होंगे जिसका अधिक प्रचार तीर्थंकर महावीर तथा गौतम बुद्ध के समय में हुआ और जिससे जैन धर्म एवं बौद्ध-धर्म को प्रश्रय मिला। इस परम्परा के लिए कहा जाता है कि यह वेदों की रचना के पहले से ही आ रही थी और इस बात का प्रमाण मोहेनजोदड़ो के उपलब्ध अवशेष चिन्हों में ढूँढा जाता है तथा यहाँ तक अनुमान किया जाता है कि वैदिक परम्परा का प्रचार जहाँ पश्चिमी भारत में था वहाँ यह पूर्वी भारत में प्रचलित थी। इस परम्परा के लोगों में एक यह विशेषता भी पाई गई कि ये लोग यज्ञ का तिरस्कार, उसके हिंसा मूलक होने के कारण भी किया करते थे। उन्हें यज्ञों में बलि दिए जानेवाले प्राणियों के प्रति समवेदना का अनुभव होता था और वे इसीलिए उसका त्याग, अहिंसा की दृष्टि से भी करना चाहते थे। ऐसे लोगों ने भी वेदादि में सुरक्षित समझे जानेवाले ज्ञान के स्वरूप को ही सभी कुछ नहीं माना, प्रत्युत उसका प्रगतिशील होना बतलाया। इनका यह भी सिद्धान्त रहा कि देवोपासना से कहीं अधिक महत्त्व उस प्रकार की साधना को देना चाहिए जो परम कल्याण की प्राप्ति के लिए मानवीय पुरुषार्थ पर अवलंबित रहती है तथा जिसके द्वारा आदर्श मनुष्यत्व की प्रतिष्ठा में भी सहायता मिलती है। इनकी बहुत-सी बातों में उन व्रात्यों के मत एवं आचरण की समानता दीखती है जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। इसके लिए तो कोई आधार नहीं कि इन दोनों अर्थात् श्रमणों एवं व्रात्यों में से किनको अधिक प्राचीन माना जाए और न इसी बात के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है कि इनमें

---

१ 'ऋग्वेद' (दशम् मण्डल, सूक्त १३६)

से किस वर्ग ने दूसरे को कहाँ तक प्रभावित किया होगा अथवा इनका कभी कोई पारस्परिक सम्बन्ध भी रहा होगा या नहीं किन्तु इतना निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि ये दोनों ही वैदिक परम्परा का विरोध करते थे। श्रमणों की परम्परा के आधार पर जिन बौध एवं जैन धर्मों की प्रतिष्ठा हुई उन्होंने अभी आज तक उसी दृष्टि से काम किया है।

वैदिक कर्मकांड के आलोचकों का एक यह भी कहना था कि इसमें सदाव्यस्त रहनेवाले लोग अपनी स्वार्थ परायणता का ही प्रदर्शन करते हैं और 'ऐसे कृत्यों द्वारा हमें अमुक प्रकार का फल मिलेगा' के अतिरिक्त उन्हें कोई और बात प्रायः कम सूझा करती है। ऐसी टीका-टिप्पणी करनेवालों में हम 'श्रीमद्भगवद्गीता' के रचयिता तक की गणना कर सकते हैं जिन्हें वैदिक परम्परा के प्रति कोई दुर्भावना नहीं थी और जो उसके शास्त्रादि की उपादेयता को भी स्वीकार करते थे। उन्होंने कहीं-कहीं तो 'यज्ञ' शब्द का बहुत व्यापक अर्थ ही लगाया है और कहा है "तीक्ष्ण व्रत का आचरण करनेवाले संयमी पुरुष कोई द्रव्य रूप, कोई तप रूप, कोई स्वाध्याय रूप और कोई ज्ञान रूप यज्ञ किया करते हैं" और यज्ञ न करनेवाले को इस लोक में सफलता नहीं होती तो उसे परलोक कहाँ मिलेगा।" किन्तु अन्यत्र उन्होंने "द्रव्यमय यज्ञ से अधिक श्रेष्ठ ज्ञान यज्ञ को ही ठहराया और कहा है कि समस्त कर्मों का पर्यवसान यज्ञ में हो जाता है।[१]" इसके सिवाय उन्होंने यहाँ तक कहा है कि "हे पार्थ, कर्मकांडात्मक वेदों के फलश्रुति युक्त वाक्यों में भूले हुए और यह कहनेवाले मूढ़ लोग कि इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है बहुत बढ़ा चढ़ा कर कहते हैं। वे, ऐसा कहने के कारण कि 'अनेक प्रकार

---

१ "द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे ।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य, कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥
श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञात् ज्ञानयज्ञः परंतप ।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥" गीता (अध्याय ४)

के यज्ञ यागादि कर्मों से ही फिर जन्म रूप फल मिलता है और जन्म-जन्मांतर में योग तथा ऐश्वर्य मिलता है।' सदा स्वर्ग के पीछे पड़े रहते हैं और इन काम्यबुद्धिवालों का मन बराबर उसी ओर आकृष्ट रहता है तथा वे योगैश्वर्य में लीन भी रहा करते हैं। इन की व्यवसायात्मिका बुद्धि कभी एक स्थान में स्थिर नहीं रहने पाती। इस प्रकार कर्मकांडात्मक वेद त्रैगुण्य की बातों से ही भरे पड़े हैं और तुम्हें, इसके विपरीत, त्रिगुणों से अतीत, नित्यसत्वस्थ एवं सुख-दुखादि द्वन्द्वों से अलिप्त रह कर तथा योगक्षेत्रादि स्वार्थों में न पड़ कर, आत्मनिष्ठ हो जाना चाहिए। चारों ओर पानी की बाढ़ आ जाने पर जितना कुएँ का प्रयोजन रह जाता है (अर्थात् कुछ भी काम नहीं रहता) उतना ही प्रयोजन एक ज्ञान प्राप्त ब्राह्मण को वेद का रहता है।[1] " अतएव यद्यपि उन्होंने वेद विहित कर्मों को नितान्त व्यर्थ और अनावश्यक नहीं ठहराया है, किन्तु उन्हें गौण स्थान अवश्य दे दिया है जिससे पता चल जाता है कि जो मनोवृत्ति उपर्युक्त व्रात्यों एवं श्रमणों के यहाँ काम कर रही थी उसका यहाँ भी वैसा अभाव नहीं था।

महात्मा गौतम बुद्ध के लिए सदा 'वेद निंदक' की उपाधि दी जाती आई है, किन्तु उन्होंने भी वेदों पर आश्रित कर्मकाण्डादि को केवल एक

---

१ यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः ॥४२॥
कामात्मानः स्वर्ग पराजन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिंप्रति ॥४३॥
भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न निर्धायते ॥४४॥
त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥
यावानर्थ उदपाने सर्वत : संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानत : ॥४६॥" गीता (अध्याय २)।

निंदक की दृष्टि से ही हेय नहीं बताया, प्रत्युत ऐसे कर्मों को नैतिक सदाचरण की अपेक्षा अत्यन्त गौण मानने का उन्होंने कारण भी दिया। वे "त्रैविद्य ब्राह्मण को वेदास्ते फंसा हुआ तथा सूखे में तैरता हुआ कहते थे और उसकी विद्या को वीरान भी बतलाते थे।"[1] किन्तु इसका कारण यह था कि वे उन लोगों को, वैसी विद्या के साथ साथ, स्वानुभूति से भी युक्त नहीं समझा करते थे। उन्होंने स्वयं अपने विषय में भी कहा था, "ज्ञातव्य को जान लिया भावनीय की भावना करली, परित्याज्य को छोड़ दिया, अतः हे ब्राह्मण, मैं 'बुद्ध' हो गया।"[2] इसके लिए किसी शास्त्रादि के अध्ययन पर अपना आश्रित होना उन्होंने कहीं भी नहीं बतलाया। उन्होंने अपने समय वाले 'कालाम' क्षत्रियों से भी कहा था "आओ कालामो! तुम न तो अनुभव से विश्वास करो, न परम्परा से, न 'ऐसा ही है' से, न पिटक सम्प्रदाय से, न तर्क के कारण, न भय के कारण, न वक्ता के आकार के विचार से, न अपने चिर-परिचित मत के अनुकूल होने से, न वक्ता के भव्य रूप से, न इस कारण ही कि श्रमण हमारा गुरु है, किन्तु जब कालामो! तुम अपने ही आप जान लो कि ये धर्म अकुशल, सदोष, विज्ञ-निन्दित हैं और ग्रहण किए जाने पर अहित के लिए, दुःख के लिए होते हैं तब कालामो! तुम उसे छोड़ देना।"[3] उनके अनुसार किसी भी मत को केवल इसीलिए ग्राह्य नहीं मान लेना चाहिए कि उसे अमुक ने प्रतिपादित किया है अथवा वह अमुक प्रमाण ग्रन्थ पर आश्रित है, प्रत्युत उसे, इस दृष्टि से, अपनाना चाहिए कि वह अपने आदर्श जीवन के सुसंगत है और अनुभूति परक है, चाहे वह किसी से भी प्राप्त हो। वेदों द्वारा विहित यज्ञादि जो उन्होंने केवल, इसीलिए, अग्राह्य कर्म कहा कि उनके द्वारा हमारे प्रत्यक्ष जीवन को कोई उचित लाभ नहीं होता और न उनके कृत्यों को, जिनके लिए बहुत से

---

१. सेविज्ज सुत्त (दीघ निकाय, १।१३)।

२. सेल सुत्त (मज्झिम निकाय, २।५।३)।

३. केस पुत्तिय सुत्त (अंगुत्तर निकाय, ३।७५)।

हिंसा परक कार्य तक करने पड़ जाते हैं, हम किसी प्रकार सबके हितार्थ ही ठहरा सकते हैं।

बौद्ध धर्म के अनुयायी वज्रयानी सिद्धोंने भी इस बात को अपनी निजी आलोचनात्मक शैली में दूसरे ढंग से कहा है। सरहपा का कहना है "पंडित सभी शास्त्रों की व्याख्या कर जाता है, किन्तु स्वयं अपने शरीर में ही अवस्थित बुद्ध को नहीं जान पाता। वह जन्म-मरण की परम्परा को तोड़ नहीं पाता और फिर भी निर्लज्ज होकर कहता है कि मैं पण्डित हूँ[1]।" सिद्ध कण्हपाने इस बात को एक दृष्टान्त देकर भी बतलाया है और उन्होंने कहा है "आगम, वेद एवं पुराणों के ज्ञान का पण्डित लोग गर्व किया करते हैं, किन्तु उनका ऐसा करना पके हुए श्रीफल की चारों ओर मण्डराते फिरनेवाले भ्रमर जैसा ही कहा जा सकता है[2]।" सिद्ध तेलोपा भी कहते हैं कि "जो सत्य केवल स्वसंवेद्य है अर्थात् जिसका सम्यक् ज्ञान केवल स्वानुभूति पर ही आश्रित है वह मन अथवा अन्य इन्द्रियों के लिए गम्य नहीं हो सकता[3]।" ऐसी बातों को हम केवल किसी से सुन कर अथवा कहीं से पढ़ कर ही कैसे जान सकते हैं। और, यदि सत्य से हमें कुछ भी परिचय उपलब्ध नहीं तो, निश्चय है कि हम न तो अपने जीवन का कोई आदर्श ही स्थापित कर सकते हैं और न तदनुसार आचरण ही कर सकते हैं। जैन मुनि रामसिंह ने भी कहा है "अहो! इस मन रूपी हाथी को विंध्य पर्वत की ओर जाने से रोको (अर्थात् इसे वेदशास्त्रादि के बीहड़

---

१ "पण्डिअ सअल सत्थ वक्खाणइ। देहहि बुद्ध वसन्त न जाणइ॥
अवणागमण णंतेण विखण्डिअ। तेवि णिलज्ज भणइ हउँ पण्डिअ॥६८॥"
दोहाकोष।

२ "आगम वेअ पुराणें पण्डिआ माण वहन्ति।
पक्क सिरिफले अलिअ जिम वाहेरिअ भमन्ति॥२॥" दोहाकोष।

३ "सअ संवेअण तत्तफल, तील पाअ भणन्ति।
जो मणगोअर पइट्ठइ, सो परमत्थ न होन्ति॥६॥" दोहाकोष।

वन में प्रवेश न करने दो) क्योंकि उस दशा में वह शील (आचरण) रूपी वन को भंग कर देगा और फिर संसार के चक्कर में पड़ा रह जायगा [१]।" वे इसी बात को अन्यत्र इस प्रकार भी कहते है "सिद्धान्त, वेद और पुराण जाननेवालों को जब किसी प्रकार की भ्रांति न रहे और जब उनका आनन्द से गमन हो जाय तभी, हे मूर्ख ! वे सिद्ध कहलाते हैं [२]।" उन पर आश्रित मात्र रह कर ही कोई वस्तुतः सफल नहीं हो सकता। अपने निजी अनुभव से ही विचार-स्वातंत्र्य की उपलब्धि होती है और तभी कोई आचरण भी ठीक हो पाता है। कथनी-कथना व वेद का पढ़ना कुछ भी न नहीं। गुरु गोरख-नाथ की रचनाओं में इसे इस प्रकार भी कहा गया है "जो कथनी मात्र किया करता है वह हमसे छोटा है और वेदपाठी उससे भी नीची कोटि का है, किन्तु जो रहनी रहता है वह हमसे श्रेष्ठ है और गुरुतुल्य है। हम रहनीवाले के ही साथी हैं [३]।"

जिस समय सन्त-साहित्य की रचनाओं का आरम्भ होने लगा था उस समय विचार स्वातन्त्र्य की भावना का प्रचार कम न था। वह एक ओर जहाँ दूसरों के कथन मात्र पर ही पूरी आस्था रख कर, किसी साधना में प्रवृत्त हो जाने तथा साथ ही उसकी सचाई को अपने निजी अनुभव द्वारा भी न परख लेने को अधूरा मानते थे वहाँ दूसरी ओर उनका एक यह भी आदर्श रहा कि स्वयं अपनी भी कथनी एवं करनी में पूरा सामंजस्य रखा जाए और केवल बाहरी बातों एवं विडम्बनाओं को कोई महत्व न दिया

---

१ "आम्मिय इड्डु मणु हत्थिया, विंझइ जंतउबारि।
तं भंजेसइ सीलवणु, पुणु पडिसइ संसारि" ॥१५५॥ पाहुड़ दोहा

२ "सिद्धंत पुराणहि वेच बढ बुज्झंतह णउ भंति।
आणंदेण व जाम गउ ता बढ़ सिद्ध कहंति ॥१२६॥" पाहुड दोहो' पृ० ३८।

३ "कथणी कथै सो सिष बोलिये, वेद पढ़ै सो नाती।
रहणी रहै सो गुरू हमारा, हम रहता का अनावश्यक साथी ॥२७०॥" गोरखवानी
(हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग), पृ० ८२।

जाए। इन बातों को सिद्धान्त रूप में अपनाने वाले केवल वे ही लोग नहीं थे जिन पर बौद्ध, जैन अथवा नाथपंथी विचार धाराओं का प्रभाव स्पष्ट था और जो नवागत इस्लाम धर्म को भी कुछ न कुछ महत्व देने लगे थे, प्रत्युत इनमें उन धर्म सुधारकों की भी गणना की जा सकती थी जिन्हें हिन्दू समाज के अन्तर्गत किसी भयंकर 'ब्राह्मणवाद' के दर्शन हो रहे थे और वे उसे निर्मूल कर देने पर भी तुले थे। उनके जी में यह बात पूर्ण रूप से घर कर चुकी थी कि सारे वर्तमान अनर्थों की जड़ पहले के ब्राह्मणों द्वारा प्रतिष्ठित सामाजिक व्यवस्था और उनकी चलाई हुई उन साधना-पद्धतियों में है जिनकी परम्परा प्राचीन वैदिक युग से ही प्रवहमान है। ऐसे लोगों के कारण स्वयं सुधारवादियों में भी दो स्पष्ट वर्गों की सृष्टि हो गई थी और वे एक दूसरे को निंदनीय तक समझने लग गए थे। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में महाराष्ट्र की ओर दो ऐसे भिन्न भिन्न दल थे जिनमें से महानुभाव पन्थ वाले जहां 'ब्राह्मणवाद' के घोर विरोध का नारा लगाते थे वहाँ वारकरी पन्थवाले उन्हें, ऐसा करने के कारण, सर्वथा त्याज्य एवं बहिष्कार योग्य तक समझते थे और वैदिक परम्परा की सुरक्षा के पक्षपाती थे।

२. भक्ति भावना : संतों की रचनाओं पर एक साधारण दृष्टिपात करने पर भी पता चल जाता है कि उनमें भक्तों के उद्‌गार सुरक्षित हैं। उनके रचयिता अपने किसी इष्टदेव के प्रति भक्तिभाव प्रदर्शित करते हैं, उसका गुणगान करते हैं और उसका नामस्मरण तक करते हैं। उनकी भक्ति में अर्चन-पूजन की कोई निहित पद्धति नहीं और न कोई सेवा भाव से की गई सजावट है। इसके लिए किसी प्रतिमा की आवश्यकता नहीं और न प्रार्थना-विशेष के लिए निर्मित किसी देव-मन्दिर को ही महत्व दिया जाता है। इसमें किसी ऐसी उपासना को भी स्थान नहीं है जिसके लिए शारीरिक या मानसिक साधना के लिए दीर्घकालीन अभ्यास का किया जाना अनिवार्य हो। इसका भक्त केवल अपने इष्टदेव को निकट से जान लेना चाहता है, उसके साथ अपना तादात्म्य स्थिर कर लेना चाहता है, अपने भीतर से लेकर सर्वत्र बाहर तक भी उसे ओतप्रोत समझ कर उसके साथ साहचर्य

का अनुभव करना चाहता है और वैसा ही व्यवहार भी करना चाहता है जिसके कारण, किसी प्रकार का सेव्य-सेवक भाव न रह कर, उसमें शुद्ध स्वानुभूति की स्थिति आ जाती है। यह अवश्य है कि इसके लिए उसे किसी 'जुगति' का आश्रय भी लेना पड़ता है जो उसे अपने सद्गुरु की ओर से किसी संकेत के रूप में मिलती है और इसके साथ यह भी आवश्यक है कि उसे सर्वसाधारण के बीच रहते हुए भी, अपनी भक्ति साधना में निरन्तर एकतानता बनाए रखनी पड़ती है जो असम्भव नहीं तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है, किन्तु मानव जीवन को आदर्श रूप देने की चेष्टा करने वाले के लिए तथा विशेष कर उसके लिए जो 'भूतल को स्वर्ग बना देने की महत्वाकांक्षा रखता हो, इससे कम से काम चलना भी असम्भव है। अतएव इस प्रकार की भक्ति केवल भजन व कोरी उपासना की साधना नहीं, यह पूरे जीवन की वह सर्वांगपूर्ण साधना है जिसमें सिद्धि प्राप्त कर लेने वाला स्वयं परमात्मा तत्त्व के साथ तदाकारता ग्रहण कर लेता है तथा इसके द्वारा उसके कार्य में भाग तक लेने (भज्=भाग लेना) लग जाता है। ऐसा कर लेने में ही वस्तुतः 'संत' शब्द की भी सार्थकता है जो केवल ज्ञान वा कर्म में ही निरत रहने वाले के भी लिए उपयुक्त नहीं कहा जा सकता था।

'सन्त' एवं 'भक्त' दो ऐसे शब्द हैं जिनका प्रयोग करते समय हम उनकी उपयुक्तता के विषय में बहुत कम सावधान रहते हैं। हमने इन दोनों को एक दूसरे का ठीक-ठीक पर्याय सा मान लिया है और यदि सभी बातों पर विचार किया जाए तो यह उचित भी है। परन्तु जैसा अन्य कई शब्दों की समानार्थकता पर ध्यान देते समय भी जान पड़ेगा, कोई भी दो शब्द ऐसे नहीं मिल सकते जो अपने-अपने अर्थ व तात्पर्य की व्यापकता में सोलहों आने एक समान हों और हम उन्हें एक दूसरे का सच्चा पर्यायवाची कह सकें। एक शब्द अपनी व्युत्पत्ति के अनुसार अथवा कभी-कभी किसी प्रसंग विशेष के भी कारण जिस भावना का बोध करता है उसके साथ उसकी तदात्मकता बन जाती है और जैसे-जैसे उसके उचित प्रयोग होते जाते हैं

उसमें दृढ़ता भी आती जाती है। किन्तु इस बात के लिए कभी कोई प्रतिबन्ध नहीं रखा जा सकता कि सभी कोई उसका प्रयोग ठीक उसके मौलिक अर्थ में ही करेंगे। इसके सिवाय कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि समय पा कर उसके मौलिक अर्थों में जो परिवर्तन हो जाता है उसे ही अधिक स्वीकृति मिलने लगती है और इस प्रकार वह क्रमशः अपने मूल उद्देश्य से बहुत दूर जा पड़ता है और उसे उस रूप में फिर पहचानना भी कठिन हो जाता है। इसके लिए हमें उसके इतिहास का सहारा लेना पड़ता है और तब कहीं उसके विषय में हमें कुछ समाधान हो पाता है।

'सन्त' एवं 'भक्त' दोनों शब्दों के ही प्रयोग अधिकतर, एक के दूसरे की जगह, होते आए हैं। यदि व्युत्पत्ति के विचार से देखा जाए तो 'सन्त' शब्द को इसके अस्=होनावाले मूल के आधार पर बने होने के कारण) हम उस व्यक्ति विशेष का बोधक कहेंगे जिसने सत् रूपी परमतत्त्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने साधारण व्यक्तित्व से उठ कर उसके साथ तद्रूप हो गया हो अथवा उसकी उपलब्धि के फलस्वरूप अखंड सत्य में पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया हो और इसी प्रकार 'भक्त' शब्द को भी (इसके भज्=भाग लेनेवाले मूल के आधार पर बने होने के कारण) हम उस व्यक्ति की ओर निर्देश करते पाएँगे जो एक विशेष स्थिति में आ जाने के कारण भगवान् के ऐश्वर्य में अपना भाग लेने का उपयुक्त अधिकारी बन गया हो। इस दृष्टि से देखने पर सन्तों की भक्ति वास्तव में उनके अपने जीवन की उस दशा की ओर संकेत करती हैं जिसमें उसका पूरा काया पलट हो गया रहता है तथा जिसमें उन्हें परमतत्त्व व परमात्मा के प्रति अभेदभाव का अनुभव होने लगता है। परन्तु उसी प्रकार देखने से हमें जान पड़ता है कि भक्तों की भक्ति उन्हें अपने भगवान् के सान्निध्य में पहुँचा कर ही तृप्त कर देती है और वे उससे पृथक् बने रहते हुए भी वहाँ से हटने का नाम नहीं लेते। अतएव सन्त जहाँ, अपने इष्ट के अस्तित्व में अपने को लीन करके भी संसार में बने रहने से घबड़ाया नहीं करता वहाँ भक्त को अपने भगवान् के निकटवर्त्ती होने का सुख छोड़ कर फिर जगत के जंजाल में काम करने लगना बुरा जान पड़ता है जिस कारण

सन्तों के प्रवृत्ति मार्गी होने में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती। किन्तु भक्त ऐसा करते समय प्रायः भय का अनुभव करने लगता है और वह बहुधा निवृत्ति मार्ग ही पसन्द करता है। साधारण ढङ्ग से भी हम देखते हैं तो 'सन्त' शब्द का प्रयोग विशेष कर वहीं किया गया मिलता है जहाँ कोई व्यक्ति समाज में रह कर दूसरों के प्रति दया अथवा परोपकार का भाव प्रदर्शित करता पाया जाता है। किन्तु भक्त हम केवल उन्हें ही कहा करते हैं जो सदा भगवद्भजन में लीन रहा करते हैं।

फिर भी जैसा पहले कहा जा चुका है इन दोनों शब्दों का प्रयोग करते समय हम इस प्रकार के किसी अन्तर पर कभी ध्यान नहीं देते। कबीर साहब जो सन्त परम्परा की दृष्टि से 'आदि सन्त' तक कहे जाते हैं, बहुत से लोगों के अनुसार एक वैष्णव भक्त मात्र हैं और गोस्वामी तुलसीदास भी इसी प्रकार बहुधा सन्त तुलसीदास कह दिए जाते हैं। स्वयं कबीर साहब एवं गोस्वामी तुलसीदास ने भी इन दोनों शब्दों के प्रयोग किए हैं, किन्तु वे भी कहीं इन दोनों के बीच कोई स्पष्ट भेद बतलाते नहीं जान पड़ते। इतना अवश्य है कि कबीर साहब ने अपनी एक साखी द्वारा सन्तों के लक्षण पृथक् रूप में बतला दिए हैं, किन्तु भक्तों के विषय में उन्होंने ऐसा नहीं किया है और इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी सन्तों का परिचय दिलाने के लिए एक से अधिक स्थलों पर प्रयत्न किया है, किन्तु भक्त का वैसा वर्णन नहीं किया है। वे कभी-कभी भक्ति के अंगों और उपांगों की चर्चा करते हैं और उसकी ज्ञान के साथ तुलना भी करते हैं, किन्तु भक्तों के सांगोपांग लक्षण नहीं बतलाते हैं। अतएव संभव है कि इन दोनों महापुरुषों को कोई इस प्रकार का अन्तर दिखलाना अभीष्ट न हो अथवा वे दोनों को अभिन्न भी मानते रहे हों परन्तु पता चलता है कि 'सन्त' शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से केवल उन भक्तों के ही लिए होने लगा जो पंढरपुर वाले विट्ठल भगवान् के उपासक अथवा वारकरी संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक थे और जिनकी भक्ति में निर्गुणोपासना की प्रधानता थी। इन लोगों में से भी नामदेव, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, रामदास एवं तुकाराम आदि के लिए तो यह शब्द जैसे

रूढ़ि-सा हो गया[१], और कदाचित् अनेक बातों में इन्हीं के समान होने उपदेश देने और पद रचना करने के कारण, उत्तर भारत के कबीर साहब आदि का भी पीछे वहीं नामकरण हो गया। अस्तु।

भक्ति साधना की भावना बहुत प्राचीन है और इसकी ओर किये गये कुछ संकेत वैदिक साहित्य तक में उपलब्ध हैं। 'मुंडकोपनिषद्' में एक स्थल पर आता है "इस आत्मा को न तो हम उपदेशों द्वारा प्राप्त कर सकते हैं, न बुद्धि द्वारा उपलब्ध कर सकते हैं और न बहुत अध्ययन से ही। जिस किसी पर इसकी कृपा हो जाती है उसीके प्रति यह (परमात्मा) अपने को प्रकट करता है[२]।" और, इसी प्रकार कई स्थलों पर यह भी कहा गया है कि वह सब किसी के भीतर वर्त्तमान रह कर उनसे जैसा चाहता है कराया करता है तथा, इसी लिए, उससे ऐसी प्रार्थना की गई भी मिलती है कि "मुझे अन्धकार की ओर से प्रकाश की ओर ले चलो, असत् की ओर से सत की ओर ले चलो और मृत्यु की ओर से अमृत की ओर से मेरा मार्ग प्रदर्शन करो[३]।" जिससे स्पष्ट है कि हम उसे अपना पूर्ण नियामक मानते हैं और उसकी कृपा पर विश्वास भी रखते हैं। भक्ति की यह भावना अपने इष्ट देव को अपने प्रति प्रसन्न करने से सम्बन्ध रखती है और यह उसकी आत्मीयता

---

१ Now Santa is almost a technical word in the vitthala Sampradaya. Not that followers of other sampra_dayas are not santas, but the followers of the varakari sampradaya are santas par excellence," Mysticism in Maharashtra by Dr. R. D. Ranade (Poona, 1933) p. 42

२ नायमात्मा अनावश्यक प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनु स्वाम्॥" (३।२।३)।

३ "असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मामृतं गमय॥"
बृहदारण्यकोपनिषद् १।३।२८।

एवं कृपालुता के प्रति विश्वास पर निर्भर है। उस परमात्म तत्त्व का परिचय देते हुए 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में कहा गया है "वह समस्त प्राणियों में स्थित एक देव है, वह सर्वव्यापक, समस्त भूतों का अन्तरात्मा, कर्मों का अधिष्ठाता, समस्त प्राणियों में बसा हुआ, सबका साक्षी, सबको चेतनत्व प्रदान करनेवाला तथा शुद्ध और निर्गुण है[1]।" और आगे चल कर उसी के ज्ञान की उपलब्धि द्वारा मृत्यु के पार जाने का भी कथन किया गया है, दूसरे किसी मार्ग से नहीं[2]।" उसे अन्यत्र निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्यव निरञ्जन जैसा भी कहा गया है[3] और इसके साथ यह भी बतलाया गया है "जिसकी परमेश्वर में अत्यन्त भक्ति है, और जैसी परमेश्वर में है वैसी ही गुरु में भी है, उस महात्मा के प्रति कहने पर ही इन तत्त्वों का प्रकाश होता है[4]।"

शैव धर्म के अनुयायी जिस प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' को शिव व महेश्वर नामधारी परमात्मा की भक्ति के इतिहास में, महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं उसी प्रकार वैष्णव धर्म के अनुयायी भी 'श्रीमद्भगवद्गीता' को वासुदेव की भक्ति के लिए प्रामाणिक ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। उसमें भी प्रधानतः यही बतलाया गया है "जिस परमात्मा से प्राणिमात्र की प्रवृत्ति हुई है और जिसने समस्त जगत् का विस्तार किया है अथवा जो सारे जगत् में सर्वत्र ओत-प्रोत है, उसका स्वकर्मानुसार पूजन करने पर ही मनुष्य को सिद्धि प्राप्ति होती है[5]।" तथा अन्यत्र श्रीकृष्ण के द्वारा उसमें यह भी

---

१ "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः, सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥११॥"
श्वेताश्वतर उपनिषद् (अध्याय ६)

२ वही, पद्य १५।

३ वही, पद्य १६।

४ "यस्यदेवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥२३॥" वही।

५ "यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥४६॥" गीता (अध्याय १८)

कहलाया गया है ''जिस किसी को भक्ति द्वारा मेरातात्त्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ तो वह, ऐसी तात्त्विक पहचान के हो जाने पर मुझमें ही प्रवेश कर जाता है[1]।'' अर्थात् परमात्म-रूप होकर मृत्यु के प्रभाव से सर्वथा मुक्त हो जाता है। वहाँ पर अन्यत्र उस तत्त्वतः ज्ञेय परमात्मा के स्वरूप का भी परिचय दे दिया गया है और कहा गया है ''वह अनादि है, सबसे परे का ब्रह्म है उसे न सत् कह सकते हैं और न असत् ही······उसमें सभी इंद्रियों के गुणों का आभास है, पर उसके कोई भी नहीं ही हैं, वह सबसे असक्त अथवा पृथक होकर भी, सब किसी का पालन करता है और सर्वथा निर्गुण होने पर भी गुणों का उपभोग किया करता है ।'' इत्यादि; तथा उसी के विषय में यह भी बतलाया गया है ''हे पार्थ, जिसके भीतर सभी भूत हैं और जिसने इस समूचे विश्व को फैलाया अथवा व्याप्त कर रखा है वह 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष, अन्यत्र भक्ति के ही द्वारा प्राप्त होता है[3]।'' और इस प्रकार वहाँ भी वस्तुतः किसी निर्गुण परम-तत्त्व की ही भक्ति की ओर निर्देश किया गया है।

परन्तु 'गीता' के ही कुछ स्थलों पर इस बात की ओर भी संकेत किया गया है कि इस प्रकार की भक्ति का करना सरल नहीं है। ''जो अनिर्देश्य व प्रत्यक्ष न दिखलाये जानेवाले, अव्यक्त, सर्वव्यापी अचिन्त्य एवं

---

१ भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततोमां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥'' गीता (अध्याय १८)

२ ''ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते ।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वेंद्रियगुणाभासं सर्वेंद्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृच ॥१४॥'' गीता (अ० १३)।

३ पुरुषः स परः पार्थ, भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।
यस्यांतःस्थानि भूतानि, येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥ वही (अ० ८)।

कूटस्थ अर्थात् सबके मूल में स्थित अचल और नित्य अक्षर ब्रह्म की उपासना, सब इंद्रियों को रोक कर सर्वत्र समबुद्धि रखते हुए करते हैं वे सब भूतों के हित में निमग्न रहनेवाले भक्त मुझे ही पाते हैं, तथापि उनके चित्त के अव्यक्त में आसक्त रहने के कारण, उन्हें इसमें क्लेश भी अधिक होता है; क्योंकि किसी भी देहाधारी मनुष्य को (जो इसी कारण स्वयं व्यक्त भी है) अव्यक्त की उपासना का मार्ग कष्ट से ही सिद्ध हो पाता है[1]।" इसलिए उसके नवें अध्याय के अन्तर्गत, इस प्रकार की उपासना का भी वर्णन आया है जिसे व्यक्त की उपासना कह सकते हैं[2]।" यहाँ पर ऐसी उपासना को "प्रत्यक्ष अवगम, सुखकारक, धर्म्म तथा अव्यय भी कहा गया है[3]" और इसमें करना इतना ही है कि "जो कुछ भी किया जाय उसे तथा जो भी खाया जाय, हवन किया जाय दिया जाय अथवा तप तक किया जाय उसे भगवान् को अर्पित कर दिया जाय[4]।" "भगवान् में ही मन लगाया जाय, उसी का भक्त हुआ जाय, उसकी पूजा की जाय, उसके प्रति परायण हुआ जाय,[5]" इत्यादि। श्रीकृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा है "हे पांडव! जो इस

---

१ येत्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥३॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥४॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देवद्भिरवाप्यते ॥५॥ वही (अ० १२)।

२ 'गीता' (अध्याय ६ श्लो० २, २७ व ३४)।

३ "प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्तुमव्ययम्" 'गीता (९।२)।

४ "यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासियत्।
यत्तपस्यसि कौंतेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२८॥" वही (६।२८)।

५ "मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायण: ॥३४॥" वही (६।३४)।

बुद्धि से काम करता है कि सर्व कर्म मेरे अर्थात् परमेश्वर के हैं, जो मत्परायण और संगविरहित है और जो सभी प्राणियों के विषय में निर्वैर है, वह मेरा भक्त मुझमें आकर मिल जाता है[1]।" अव्यक्त की उपासना ज्ञानियों की बुद्धि में "अनेक जन्मों के अनन्तर ऐसे अनुभव का आ जाना है कि 'जो कुछ है वह वासुदेव ही है' और तभी वह मुझे पाता है। ऐसा महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है[2]।' परन्तु व्यक्त की उपासना में ऐसी बात नहीं है और इसलिए इसे जहाँ 'कर्म योग' कहा गया है वहाँ अव्यक्त की उपासना को 'ज्ञान योग' का नाम दिया गया है। समन्वयात्मक 'भक्ति योग' में इन दोनों का ही समावेश हो जाता है और इस प्रकार का भक्त, एक ओर जहाँ जो कुछ है उस सभी को परमात्म-रूप में देखता है वहाँ दूसरी ओर अपने सभी कर्मों को अनासक्त भाव के साथ करता हुआ दीर्घजीवी बने रहने की आशा भी रखता है[3]।" उस दशा में ऐसे भक्त का दैनिक व्यापार किसी कोरे उपासक का ही नहीं रह जाता, प्रत्युत वह एक उत्कृष्ट आदर्श जीवन का अंग भी बन जाता है।

शैव धर्म द्वारा अपनाई गई भक्ति का रूप जहाँ प्रधानतः ध्यान योगात्मक अथवा उपर्युक्त लक्षणों के अनुसार ज्ञान योग परक भी कहा जा सकता था वहाँ वैष्णव धर्म की भक्ति उसी प्रकार मूलतः श्रद्धा परक थी और वह पीछे

---

१ "मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥"
वही (११।५५।५५)।

२ "बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ॥१९॥"
वही (।७।१९)।

३ इसके लिए देखिए—"ईशावास्य मिदं सर्वं, यत्किंच जगत्यां जगत्। तेन त्यक्तेन भुंजीथा : मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥ कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः एवं त्वयिनान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२प"
ईशोपनिषद्।

प्रेमात्मक रूप में भी विकसित हो गई। पहली का इष्टदेव किसी समय 'रुद्र' के भयानक व संहारकर्त्ता तक के रूप में स्वीकृत हुआ था और हित-परायण शिव का रूप उसे पीछे से मिला था, किन्तु दूसरी के उपास्यदेव विष्णु को प्रायः आरम्भ से ही देवेन्द्र की भांति जनरक्षक मान लिया गया। इसके सिवाय शिव को जहाँ प्रधानतः किसी ध्यानस्थ योगी के रूप में पाया गया और उसे प्रत्यक्ष रूप में उपलब्ध करने का कार्य कष्ट साध्य समझा गया वहाँ विष्णु के विषय में ऐसी धारणा बन चली कि वह भक्तों के लिए समय-समय पर अवतरित होकर भी आ जा सकता है। इसीलिए शिव को साकार बतलाते समय भी उनके उपासक लोग उनके लिंगात्मक प्रतीक मात्र से भी सन्तुष्ट हो आये परन्तु विष्णु के भक्तों ने उन्हें उनके विभिन्न देहधारी रूपों में अपनाया। इसमें संदेह नहीं कि शिव एवं विष्णु ये दोनों केवल एक ही परमतत्त्व के दो भिन्न-भिन्न रूप थे जिसे शक्ति, सूर्य आदि के अन्य अनेक रूपों में भी कभी न कभी देखा जाता रहा किन्तु जहाँ तक उन सभी के प्रति भक्ति भावना का सम्बन्ध है वह प्रधानतः उक्त दो विधाओं की ही ओर संकेत करती आई। या तो कभी वह ज्ञानमार्ग की ओर विशेष बल देती रही अथव अधिकतर श्रद्धामूलक भाव की ही ओर झुक जाती आई। तांत्रिक साधनाओं के प्रभाव में उसने कभी कभी बाह्य विधानों को भी अवश्य अपनाया किन्तु इस तीसरी पद्धति को सदा उतना महत्त्व नहीं दिया गया।

भक्ति-साधना की यह एक विशेषता रही कि इसके द्वारा भक्त ने अपने अपने इष्टदेव को प्रसन्न करके उसका अनुग्रह पाना चाहा। इस अनुग्रह व प्रसाद की ओर किया गया एक संकेत हमें उस औपनिषदिक पद्य में मिलता है जहाँ कहा गया है कि वह उसी के लिए उपलब्ध है जिसे वह स्वयं पसन्द करता है और उसकी चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है (दे० 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः' आदि)। इसका एक अन्य रूप हमें 'ऋग्वेद' के उस वाग् वा वाच् वाले सूक्त में भी मिलता है जिसमें कहा गया है "मैं ही स्वयं कह रहा हूँ जिसे देव तथा मनुष्य दोनों ही सम्यक् रूप में श्रवण करते हैं। मैं जिसे चाहता हूँ उस उसको बलवान्, वेदज्ञ, ऋषि और उत्तमवाणी युक्त

बना देता हूँ [१]।" इस प्रसाद व अनुग्रह के लिए प्रयत्न करना भक्त अपना कर्त्तव्य समझता था और उसे इसी कारण कभी-कभी आत्मनिर्भरता का बल नहीं मिल पाता था। उसकी इस प्रवृत्ति में पीछे यहाँ तक दृढ़ता आ गई कि उसने अपने लिए पूरे आत्मसमर्पण का प्रपत्तिमार्ग तक स्वीकार कर लिया। उसने अपने लिए पूर्ववत् किसी श्रेय पदार्थ की इच्छा प्रकट करना भी छोड़ दिया और अपने को सदा के लिए भगवान् की शरण में डाल दिया। उसकी ऐसी भावना वहीं तक सीमित न रह सकी जहाँ तक 'गीता' द्वारा कहा गया था कि 'सभी कर्म परमेश्वर के हैं' की दृष्टि से करो जिसमें प्रवृत्ति मार्ग के लिए भी पर्याप्त क्षेत्र खुला रह सकता था। उसने निवृत्ति मार्गी बन कर निष्कर्म की भावना में भी विश्वास कर लिया।

निवृत्ति मार्ग स्वीकार करने में एक अपना पृथक् आकर्षण था और इसके लिए बहुत से कारण भी थे। वैदिक युगीन मतों के अनुष्ठान में क्रमशः बड़ी जटिलता आ गई थी जिस कारण उनका सरलतापूर्वक निर्वाह कर ले जाना सबके बूते की बात नहीं रह गई। ऐसे लोग स्वभावतः उनके प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करने लग गए और इनकी संख्या कम न थी। परमात्म तत्त्व को ही एकमात्र सत्य मान कर विश्व के सभी पदार्थों को अपेक्षाकृत क्षणिक और अस्थायी समझने की प्रवृत्ति भी इसके लिए एक अन्य कारण बनी और इसका प्रभाव यहाँ तक बढ़ा कि बहुत से लोग अपनी संपत्ति एवं पारिवारिक सम्बन्धादि तक से उदासीन दीख पड़ने लगे। इसके सिवाय शारीरिक तथा मानसिक दुःख और जरामरण के भय ने भी कुछ लोगों को कातर बना कर उसे महत्त्व देने के लिए बाध्य किया यदि परिश्रम के द्वारा उपार्जित धन का हम अनंतकाल तक उपभोग न कर सकें, यदि हम अपने जीवन में रोगशोकादि के कारण उत्पन्न कष्टों से अपने को सुरक्षित न रख सकें

---

१ "अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्॥"
—'ऋग्वेद' (१०-१२५-५)।

और यदि हम स्वयं मृत्यु का शिकार होनेवाले हों तो फिर सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त बनने में हमें कौन-सा सच्चा आनन्द ही मिल सकता है तथा इसी कारण हम क्यों न ऐसा करें कि अपने को सभी कुछ से तटस्थ बना लें। इस प्रवृत्ति को पीछे इतना बल मिला कि इसके द्वारा भक्ति साधना तक प्रभावित हो गई और इष्टदेव अथवा भगवान् के प्रति अपना सर्वस्व अर्पित कर देने के व्याज से भी बहुत से लोगों ने सन्यास मार्ग को स्वीकार कर लेना आरम्भ कर दिया।

परन्तु इस प्रकार की मनोवृत्ति केवल वैदिक परम्परा का अनुसरण करनेवालों की ही विशेषता नहीं थी। प्राचीन श्रमणों की जीवन-पद्धति को विशेष महत्व देनेवाले बौद्ध एवं जैन धर्मों के अनुयायियों के लिए, यह और भी अनुकूल सिद्ध हुई। वे न केवल यज्ञादि कर्मों का घोर विरोध करते थे अपितु परमात्मा जैसे किसी परम तत्व के अस्तित्व में भी उन्हें कोई आस्था न थी। उन्हें अपनी साधना के लिए किसी अर्चन व पूजन के विधान की आवश्यकता ही न थी वे तप, ध्यान, योग एवं व्रतादिपरक संयत जीवन का विशेष रूप से अभ्यास भी किया करते थे जिसके लिए एकांतवास ही अधिक उपयोगी हो सकता था। इन्होंने, जब समय पा कर पीछे भक्ति साधना को भी महत्त्व देना आरम्भ किया और बोधिसत्वों तथा तीर्थंकरों की आराधना करने लगे उस काल तक तांत्रिक पद्धतियों का प्रचार इतना अधिक बढ़ गया था कि, ईश्वरवाद जैसी किसी केन्द्रपरक आस्था के अभाव में, उन्हें अपने श्रद्धाभाव का भी संतुलन खो देना पड़ गया और उनकी उपासना का रूप या तो अन्धविश्वास पर आश्रित हो गया अथवा उसमें बाह्य विधानों का बाहुल्य भी दीख पड़ने लग गया तथा जिस पद्धति की वे पहले आलोचना किया करते थे प्रायः उसी की उन्नति में वे स्वयं भी लग गए। वज्रयानियों के समय तक उन्होंने साधारण जन समाज में रहना छोड़ कर 'गुह्य समाजों' की रचना आरम्भ कर ली थी, भैरवी चक्रों में गुप्त साधना करने लग गए थे और, अमर्यादित जीवन पद्धति को ही विशेष महत्व देने के कारण, सर्वत्र अव्यवस्था उत्पन्न करते जा रहे थे। नैतिक आचरण एवं संयत जीवन के

आदर्श पर विशेष आस्था रखनेवाले जैनियों में ऐसी बातें अधिक मात्रा में प्रवेश नहीं कर सकीं किन्तु अन्धविश्वास और व्यर्थ के बाह्याचारों पर आश्रित साधनाओं के आकर्षण से वे भी दूर न रह सके। तांत्रिक साधनाओं के दुष्परिणामों द्वारा वैदिक व पौराणिक धर्म, बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म, इन सभी के अनुयायी न्यूनाधिक प्रभावित हुए और भक्ति साधना का रूप इस प्रकार विकृत बन गया कि उसका पुनरुद्धार करने के उद्देश्य से अनेक आन्दोलनों ने अपना-अपना सुधार-कार्य आरम्भ कर दिया। जो साधना पहले दक्षिण शैव तथा वैष्णव भक्तों द्वारा व्यक्तिगत रूप में अपनायी गई थी और भक्ति केवल विभिन्न साधकों के ही लिए उनका प्रमुख धर्म समझी जाने लगी थी उसका प्रचार किसी न किसी व्यवस्थित रूप में भी होने लगा और उसके लिए दार्शनिक आधार तक ढूंढा जाने लगा। इस कारण मतों की विविधता ने अनेक भिन्न भिन्न सम्प्रदायों को जन्म दे दिया। इस प्रकार सन्त-साहित्य की रचना का आरम्भ होने के समय तक न केवल भक्ति-साधना के रूप में ही परिवर्तन हो गए थे, अपितु उसके विषय में मतभेदों की भी सृष्टि होने लगी थी।

३. योग साधना—भारतीय साधना के क्रमिक विकास पर एक साधारण दृष्टिपात करने पर भी पता चल सकता है कि जिस प्रकार यहाँ यज्ञयागादि के अनुष्ठानों तथा विविध कर्मकांडों के साथ-साथ स्तुति एवं आराधना को प्रोत्साहन मिला और इनके पीछे क्रमशः भक्तिभावना में भी दृढ़ता आती चली गई लगभग उसी प्रकार यहाँ तपः साधना ने गम्भीर चिन्तन एवं ज्ञान वृद्धि में सहायता की। इसके लिए साधकों को अपनी इंद्रिया वश में करनी पड़ती थी जिससे संयत जीवन के साथ ही मन की एकाग्रता भी सिद्ध हो सके और मन के सभी ओर से हट कर किसी विषय पर केन्द्रित होते ही उसमें स्वभावतः मनन एवं विचार प्रवणता को भी पूरा बल मिलने लग जाता था। इस प्रकार की साधना-पद्धति द्वारा एक यह लाभ भी हो सकता था कि जिस परमात्म तत्त्व को अद्वितीय, केवल, सर्वव्यापी, आदि विशेषण दिये जाने लगे थे उसे तर्क द्वारा जानने अथवा अपने प्रातिभ ज्ञान द्वारा

अनुभव करने का भी यहाँ पूरा अवसर मिल जा सकता था। अनुमान किया जाता है कि इस प्रकार की तपः साधना पहले वैदिक कर्मकांड के विरोधियों द्वारा आरम्भ की गई थी और विविध अनुष्ठानों अथवा कृत्यों से अलग रह कर वे ही इसके अभ्यास में पूरा योग भी दे सकते थे। किन्तु पीछे इसे उन लोगों ने भी अपनाना आरम्भ किया जो वैदिक प्रार्थनाओं के साथ-साथ परमेश्वर के स्वरूप का चिन्तन भी करने लगे तथा जिन्होंने उसे अपने सूक्ष्म रूप में पाने के लिए इसे एक अनुकूल साधन माना। इस प्रकार की साधना को 'योग' का नाम भी कदाचित् इसी कारण दिया गया कि यह उसके साथ हमारे मिलन का महत्वपूर्ण साधन बन जाती थी।

'योग' की परिभाषा बतलाते हुए योगसूत्रों के रचियता पतंजलि ने उसे 'चित्तवृत्तियों का निरोध' कहा[1] क्योंकि उसी के द्वारा मन की एकाग्रता संभव थी जिसके आधार पर किसी साधक को परमात्म तत्त्व की उपलब्धि हो सकती थी। इस प्रकार की सिद्धि समाधि की दशा में ही हो सकती है जब हमारी सभी इंद्रियों की शक्ति अन्तर्मुख बन कर एक ही ओर केन्द्रित हो जाय उसमें पूरी दृढ़ता आ जाय तथा इसी कारण उसमें अपने लक्ष्य पर बने रह कर उसे बिंबवत् ग्रहण कर सकने की पूरी योग्यता भी आ जाय। योगियों को इस बात में पूरा विश्वास था कि इस प्रकार समाधि की दशा प्राप्त कर लेने पर हमें जो कुछ भी दर्शन मिलेगा वह उस तत्त्व का ही होगा तथा जो कुछ अनुभव होगा वह उस रूप में ही होगा जिसे इस विद्या में निपुण लोगों ने कभी-कभी अपरोक्षानुभूति के आनन्द का नाम दिया है। इंद्रियों की उपर्युक्त शक्ति को अन्तर्मुख बनाने के लिए प्राणों के आयाम अथवा नियमन की भी व्यवस्था दी गई थी और इसके लिए कतिपय नियम निर्धारित कर दिये गए थे और इस कार्य के बिना उपयुक्त प्रयत्न के सिद्ध होने में कठिनाई की आशंका से विभिन्न आसनों के भी कर लेने का सुझाव दिया गया था। योग साधना के अभ्यास में उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करने के विभिन्न क्रम थे

---

[1] "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—'योगसूत्र' (पतंजलि) १।२।

और उनका नामकरण कर दिया गया था तथा मानव शरीर के भीतर उपलब्ध समझे जाने वाले पूरे साधना क्षेत्र का सविवरण चित्र भी उपस्थित कर दिया था। इस प्रकार योग-साधना को सर्वथा वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा की गई थी और इसमें किये गए प्रयोगों के परिणाम को सत्य ठहराने में कोई आपत्ति नहीं करता था।

इस प्रकार की साधना को किसी न किसी रूप में काम में लाने वाले सभी ईश्वरवादी धर्म थे किन्तु शैवों ने इसका सबसे अधिक उपयोग किया। इस कारण इसके लिए प्रयोग में लाये जाने वाले पारिभाषिक शब्दों का अधिकांश शैवधर्म की ही शब्दावली द्वारा प्रभावित हो गया। फिर भी जहाँ तक साधकों की लक्ष्य वस्तु के स्वरूप का सम्बन्ध है उसे प्रायः सभी ने किसी ज्योतिष्पुंज के ही रूप में अनुभव किया और उसका वर्णन करते समय भी उन्होंने लगभग उन्हीं शब्दों के प्रयोग किये जो उपनिषदों की रचना करते समय प्रयुक्त हुए थे। 'मुण्डकोपनिषद्' में कहा गया है कि "वह आत्मा सदा सत्य से, तप से, सम्यग् ज्ञान से तथा ब्रह्मचर्य द्वारा प्राप्त किया जा सकता है; वह शरीर के भीतर ज्योतिः स्वरूप है और शुभ्र है जिसे दोषरहित यति लोग देखा करते हैं[1]।" इसी प्रकार 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में क्रमशः उन पदार्थों के नाम लिए गए हैं जिन्हें ब्रह्म की अभिव्यक्ति के पहले योगाभ्यास करने-वाले लोग देखा करते हैं और उनमें "कुहरे, धूम, सूर्य, वायु, अग्नि, खद्योत, विद्युत, स्फटिक मणि एवं चन्द्रमा के नाम लिए गए हैं[2]।" और इस सम्बन्ध की ऐसी अन्य अनेक बातें बतला कर भी उपर्युक्त अनुभव की

---

१ "सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा, सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।
अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥"
—मुण्डकोपनिषद् (३।१।५)।

२ "नीहारधूमार्कानिलानलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकाशनीनाम्।
एतानि रूपाणि पुरः सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे॥"
—श्वेताश्वतरोपनिषद् (२।११)।

विश्वसनीयता पुष्ट की गई है। योग-साधना को कुछ लोगों ने उसके अष्टांगों (अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि विषयक प्रयोगों) के अनुसार, उसके पूर्ण रूप में, स्वीकार किया और प्रत्येक को पूरा-पूरा महत्व भी दिया। किन्तु कुछ दूसरे लोगों ने या तो इनमें से प्रथम दो को केवल गौण मान कर शेष छः का ही विशेष अभ्यास किया अथवा इनमें से केवल अन्तिम दो की ही ओर प्रयत्न किया।

इस सम्बन्ध में 'राज-योग' एवं 'हठ-योग' नामक दो प्रकार की योग-साधनाएँ विशेष रूप में उल्लेखनीय हैं। इन दोनों में से किसी के भी लिए उपर्युक्त अष्टांगों में से एकाध का छोड़ देना अभीष्ट नहीं था। प्रश्न केवल इतना ही था कि हम उन विविध क्रियाओं में से प्रत्येक की साधना करते समय किस समय किस बात पर अधिक बल देते हैं अथवा शारीरिक नियमन पर कहाँ तक आश्रित रहते हैं। राज योग वाले चित्त की वृत्तियों के निरोध को ही अपना वास्तविक लक्ष्य मान कर शारीरिक साधना को उतना महत्व नहीं देते थे और इसी कारण आसनों के विशेष अभ्यास तथा प्राणायाम की विभिन्न क्रियाओं की ओर उनका उतना ध्यान नहीं था। परन्तु हठयोग का महत्व स्वीकार करनेवालों का कहना था कि विभिन्न आसनादि का अच्छा अभ्यास कर लिए बिना तथा प्राणायाम की क्रियाओं में भी बिना निपुणता प्राप्त किये हमारे उक्त लक्ष्य का सिद्ध होना असम्भव है। चित्त की वृत्तियाँ अत्यन्त चंचल रहा करती हैं और उन्हें जब तक हम पूरी दृढ़ता के साथ अपने वश में नहीं कर पाते तब तक हमारा काम अधूरा बना रहेगा। आसनों के अभ्यास द्वारा हमारा शरीर वश में आ जायगा और ऐसा हो जाने पर जब हम अपने प्राणों को भी सुव्यवस्थित ढंग से सम्भाल सकेंगे तब कहीं हमें वह अवसर मिल सकता है जब चित्त की वृत्तियाँ भी शांत हो सकें। परन्तु हठयोग के अनुसार साधना आरम्भ करने पर एक बहुत बड़ा दोष भी आ सकता था कि हम अपने शरीर एवं प्राणों के ऊपर पूरा वश जमाने की चिन्ता में अपने वास्तविक उद्देश्य की सिद्धि में प्रायः आवश्यकता से अधिक विलम्ब कर देते थे। इसके सिवाय हठयोगियों का दल कभी-कभी उन

सिद्धियों को भी विशेष महत्व देने लगता था जो योगबल के कारण उपलब्ध थीं और जो स्वभावतः आकर्षक भी थीं।

महात्मा गौतमबुद्ध के समय योग-साधना का बहुत प्रचार था और लोग इसे, दार्शनिक गुत्थियों तक के समझने में, सहायक मानते थे। इस कारण स्वयं उन्होंने भी, अपनी समस्याओं का उचित समाधान पाने के उद्देश्य से, पहले इसी साधन का सहारा लिया था। उन्होंने इस ओर पूरा प्रयत्न किया तथा 'आस्कानक समाधि' का अभ्यास करते करते उन्होंने अपने शरीर को जीर्ण शीर्ण कर दिया। परन्तु, जैसा उनकी अनेक जीवनियों से से पता चलता है, उन्हें इसके द्वारा कदाचित् कुछ भी सन्तोष न हो सका। फिर भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने योग-साधना को महत्व देना कम न किया और उन्होंने अपने ढंग से 'षडंग योग' की पद्धति का सूत्रपात किया। इस योग का उद्देश्य, उनके अनुसार, 'उपाय' के 'सेवा' नामक प्रथम साधन में सिद्धि प्राप्त करना था जिन सभी विषयों की चर्चा 'गुह्य समाज तन्त्र'[1] में विस्तार के साथ की गई है और वहाँ बतलाया गया है कि किस प्रकार हमें ध्यानी बुद्धादि का साक्षात्कार भी हो जा सकता है। वहाँ पर षडंगयोग के अंगों में क्रमशः (१) प्रत्याहार (२) ध्यान (३) प्राणायाम (४) धारणा (५) अनुस्मृति एवं (६) समाधि के नाम लिए गए हैं[2] और इसी क्रम से उनका परिचय देते हुए फिर यह भी कहा गया है—"प्रत्याहार के द्वारा सभी मन्त्रों का अधिष्ठान हो जाता है, ध्यान के ज्ञान से 'पंचाभिज्ञता' प्राप्त होती है, प्राणायाम से बोधि सत्त्वों का अधिष्ठान होता है, धारणा से वज्रसत्त्व आ जाता है। अनुस्मृति के द्वारा प्रभा मण्डल बन जाता है तथा अन्त में इसी

---

१ देखिए 'श्री गुह्य समाज तन्त्रम्' (गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज, सं० ५३—बड़ोदा, सन् १९३१) अष्टादश पटल, पृ० १४९-७२।

२ "प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ॥"
—गुह्य समाज तन्त्र, पृ० १६३

प्रकार समाधि के कारण निरावरण की दशा उत्पन्न हो जाती है[1]।" दूसरे शब्दों में इस बौद्ध 'षडंग योग' के द्वारा सर्वप्रथम इन्द्रियों का निग्रह किया जाता था फिर पाँच ध्यानी बुद्धों (अर्थात् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार एवं विज्ञान के प्रतीकों) पर मन को एकाग्र करना होता था, फिर प्राणवायु के निरोध से पंचभूतात्मक ज्ञान की उपलब्धि की जाती थी, फिर अपने इष्ट मन्त्र का हृदय कमल में ध्यान कर पंचेन्द्रियों की भी एक रत्न के रूप में भावना कर ली जाती थी, तब हमारा ध्यान उस पदार्थ के प्रति अनविच्छिन्न रूप धारण कर लेता था और तदनन्तर समाधि की वह अवस्था आती थी जिसमें प्रतिमास के द्वारा अलौकिक ज्ञान की उपलब्धि होती थी जिसे इस प्रकार की योग साधना का परम लक्ष्य माना गया था।

स्पष्ट है कि यह 'षडंगयोग' पतंजलि से 'अष्टांगयोग' से कई बातों में भिन्न था। इसमें न केवल उसके प्रथम दो अंगों अर्थात् 'यम' एवं 'नियम' की चर्चा नहीं की जाती थी, अपितु इसमें उसके छः अंगों का क्रम भी भिन्न था और इसके साथ ही, इसकी सिद्धि का स्वरूप भी ठीक वैसा ही नहीं था जैसा उस प्रकार की योगसाधना का रहा। फिर भी 'गुह्य समाजतन्त्र' के अध्ययन से पता चलता है कि उसकी इस तान्त्रिक साधना के रहस्यों से भली भाँति परिचित होने की चेष्टा तभी की जा सकती है जब साधक को उपर्युक्त हठयोग एवं राजयोग की क्रियाओं का भी सम्यक् बोध हो। वास्तव में, लक्ष्य की भिन्नता के कारण, तथा, बौद्ध धर्म की प्रवृत्तियों के

---

१ "प्रत्याहारं समासाद्य सर्वमन्त्रैरधिष्ठ्यते।
ध्यानज्ञानं समापद्य पञ्चाभिज्ञत्वमाप्नुयात्॥
प्राणायामेन नियतं बोधिसत्वैरधिष्ठ्यते।
धारणानुबलान्नित्यं वज्रसत्त्वः समाविशेत्॥
अनुस्मृतिसमायोगात् प्रभामण्डल जायते।
समाधिवसितामात्रे निरावरणवान्भवेत्॥"

—वही, पृ० १६४

अनुसार, इस योग साधना में किंचित् भेद का समावेश हो गया था और इसका रूप तान्त्रिक बन गया था, अन्यथा यह असम्भव नहीं था कि ठीक पातंजल प्रणाली का ही अनुसरण किया जाए। तान्त्रिक योग साधना वालों को कदाचित् इस बात में पूर्ण विश्वास भी नहीं था कि हमारी प्रणाली द्वारा सभी को सिद्धि होकर ही रहेगी। 'गुह्य समाजतन्त्र' के रचयिता तक भी एक स्थल पर स्वयं कहते हुए दीख पड़ते हैं "यदि ऐसा कर लेने पर भी साधक को 'दर्शन' न हो सके और 'बोधि' की सिद्धि न हो तो चाहिए कि हठ योग की भी साधना करले[1]।" जिससे किसी प्रकार की कठिनाई न रह जाए। तान्त्रिक साधना की यह पद्धति वह क्रिया है जिसे पारिभाषिक 'साधन' शब्द का नाम दिया जाता है और इसके द्वारा साधक अपने इष्टदेव का 'दर्शन' करता है जो केवल 'सामान्य सेवा' की कोटि में ही आने वाली बात है तथा जिसे 'उत्तम सेवा' अथवा वस्तुतः राज योग से निम्नतर स्तर दिया जा सकता है।

हठ योग का नाम आते ही कभी कभी कुण्डलिनी योग का भी स्मरण हो आता है जिसे प्रायः 'लय योग' का भी नाम दिया जाता है। इस योग की साधना करते समय साधक के भीतर कुछ विचित्र घटनाओं का होना बतलाया जाता है जिनके अपने पारिभाषिक शब्द भी हैं। कहा जाता है कि मानव शरीर के भीतर जो रीढ़ व मेरुदण्ड है उसके नीचे की ओर से लेकर ऊपर तक कुछ रहस्यमयी ग्रन्थियाँ विद्यमान हैं। मेरु दण्ड की रचना वस्तुतः छोटे छोटे अस्थि खण्डों के आधार पर की गई है जिनके सन्धि-स्थलों पर सूक्ष्म नाड़ियों द्वारा निर्मित कतिपय चक्र बन गए हैं। इनकी संख्या बहुत बड़ी हो सकती है, किन्तु इनमें से मुख्य छः ही माने जाते हैं जिन्हें, नीचे से ऊपर की प्रगति के अनुसार, क्रमशः 'मूलाधार', 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूरक', 'अनाहत', विशुद्ध और 'आज्ञा' कहा गया है। इनकी रचना

---

१ "दर्शनं तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
यदा न सिध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥"

—गुह्य समाजतन्त्र (पटल १८)

कमल के फूलों जैसी जान पड़ती है जिन के दलों की संख्या, उक्त क्रमानुसार, चार, छः, दस, बारह, सोलह एवं दो की समझ पड़ती है तथा इनकी स्थिति भी, उसी प्रकार, गुदा मूल, लिंग मूल, नाभि, हृदय, कण्ठ एवं भ्रूमध्य के समानान्तर पड़ती हुई प्रतीत होती है। कुण्डलिनी मूलाधार के निकट मेरुदण्ड के मूल में स्थिति वह शक्ति है जिसके विषय में कहा गया है कि वह, किसी सर्पिणी की भाँति, साढ़े तीन कुण्डलों व लपेटों में, सुप्त सी पड़ी रहती है और साधना द्वारा प्रबुद्ध की जाने पर, वह सीधी बन जाती है तथा मेरुदण्ड में अवस्थित सुषुम्ना नाड़ी द्वारा क्रमशः ऊपर को अग्रसर होती है। वह आगे बढ़ती हुई उक्त छहों चक्रों का क्रमशः वेधन करती चली जाती है और अन्त में ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँचकर वहाँ लीन हो जाती है। उसकी इस अन्तिम दशा को शक्ति एवं शिव के मिलन की भी संज्ञा दी जाती है और उसी को साधक की सिद्धि भी बतलाया जाता है। ब्रह्म रन्ध्र मानव शरीर का वह दशम द्वार है जो नाक, कान, मुख, गुदादि की भाँति, शिर के भीतर शीर्ष स्थान में वर्तमान है। वही शरीर का एक सातवां चक्र भी है जिसमें सहस्र दल अथवा असंख्य दल हैं और जिसमें शिव का निवास स्थान होना कहा जाता है। उसी शिव की ओर कुण्डलिनी उन्मुख होकर बढ़ती है। 'लय योग' इस शिव में कुण्डलिनी शक्ति का आकर लीन हो जाना है जिस दशा में ही आत्मोपलब्धि की स्थिति का आ जाना संभव है। उस दशा में समाधि लग जाती है और मन की चेतना नष्ट सी हो जाती है तथा शरीर की स्थिति, तान्त्रिकों के अनुसार, उस अमृत स्राव के आधार पर बनी रह जाती है जो, शिव एवं शक्ति के उक्त 'योग' के फलस्वरूप, उक्त सहस्र दल व सहस्रार से प्रवाहित होने लग जाता है।

'शिवसंहिता' के अनुसार योग चार प्रकार का होता है और उन चारों के नाम क्रमशः मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग हैं।[१] 'मन्त्र

---

१ "मंत्र योगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
चतुर्थो राजयोगः स्यात्स द्विधाभाववर्जितः" (पटल ५ श्लोक १४)

योग' का अभिप्राय उस योग साधना से है जिसमें, मन्त्र के आश्रय से ही जीवात्मा एवं परमात्मा का मिलन संभव हो जाता है। 'मन्त्र' शब्द के 'मं' से मनन का अर्थ लगाया जाता है और 'त्र' से त्राण समझा जाता है जिस कारण उसका पूरा शब्दार्थ मनन के द्वारा त्राण वा मुक्ति का उपलब्ध करना है जिसे, दूसरे शब्दों में, संसार-जन्य जन्म-मरण के चक्कर से बचना भी कहा जा सकता है। "मन्त्र का अर्थ केवल भाषा मान लेना भूल है—विशेष कर बीज मन्त्र को तो हम किसी भी भाषा के अर्थ में कभी स्वीकार ही नहीं कर सकते। मन्त्र वस्तुतः स्वयं देवता स्वरूप है जो हमारे लिए आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वोच्च लक्ष्य भी कहा जा सकता है। मन्त्र न तो भाषा है, न शब्द है, न अक्षर है और न ऐसी अन्य ही कोई वस्तु है जिसे हम आप लिखते पढ़ते हैं प्रत्युत वह देवता है जिसमें सिद्धि का निवास रहता है। वह ध्वनि है जिसके कारण प्रत्येक अक्षर ध्वनित होता है और हम उसे नित्य के प्रयोग में लाते रहते हैं।[1]" मन्त्र वास्तव में, व्यक्त शब्द ब्रह्म है। अतएव, मन्त्र के जप द्वारा हम 'देवता' का आह्वान करते हैं और उसके दोहराने से हमारा तात्पर्य उसे किसी सोते को हिला कर जगाने जैसा रहा करता है। दोनों हमारे होंठ क्रमशः शिव एवं शक्ति के रूप हैं जिनका परस्पर मिलन होता रहना इसमें सहायक होता है।

शब्द ब्रह्म के लिए कहा गया है कि वही सभी प्राणियों में चैतन्य स्वरूप है जो कुंडलिनी का रूप धारण कर फिर भाषा में भी प्रकट होता है[2]। कुंडलिनी, सर्व प्रथम, अस्पष्ट ध्वनि के रूप में रहती है और फिर क्रमशः परा से पश्यन्ती, मध्यमा एवं बैखरी बनती चली जाती है। साधक अपनी

---

१ Arthur Avalor: 'Principles of Tantra' Part II

२ चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः ।।१३।।
तत्प्राप्य कुंडलीरूपं प्राणिनां देहमध्यगम्
वर्णात्मनाऽविर्भवति गद्यपद्यादिभेदतः ।।१४।।

शारदातिलकम् (प्रथम पटल), पृ० १२।

साधना द्वारा शक्ति एवं मंत्रशक्ति का संयोग करा देता है और, इस प्रकार, मंत्र एवं देवता शिव एवं शक्ति की भांति एक रूप हो जाते हैं[१]। वास्तव में अखंड एवं सच्चिदानन्द परमेश्वर से ही शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है जिससे नाद और फिर नाद से बिन्दु की उत्पत्ति हुई[२]। मूलाधार से सदा शब्दस्रोत ऊपर की ओर उठता रहता है और यही शब्द समस्त जगत् के भी अन्तर्गत नित्य बना रहता है। हम विषयों में बराबर बहिर्मुख रहा करते हैं इस कारण हमें इसका पता नहीं चलता है, किन्तु इंद्रियों की बहिर्गति अवरुद्ध हो जाते ही, हम प्राण एवं मन के स्तंभित हो जाने से, उसे सुनने लगते हैं। इंद्रियों की बहिर्गति जब अवरुद्ध हो जाती है तो सुषुम्नामार्ग उन्मुक्त हो जाता है और हमारा प्राण उस समय स्थिर होकर सूक्ष्म बन जाता है। उस समय हमारी शक्ति सुषुम्ना के ही शून्य पथ से प्रवाहित होने लग जाती है और हम उक्त अनाहत का श्रवण कर पाते हैं। कहते हैं कि इस ध्वनि का निरन्तर श्रवण करते-करते हमारा मन पूर्णतः निर्मल एवं शान्त हो जाता है जिस दशा में वह उसे फिर नहीं सुनता। सन्तों ने उस अनाहत नाद व 'अनहद शब्द' को निरन्तर सुनते रहने के ही लिए 'सुरत शब्द योग' के अभ्यास की युक्ति निकाली है।

लययोग की समाधि 'सविकल्प' कही जाती है जहाँ राजयोग की समाधि को 'निर्विकल्प' कहा करते हैं। लययोग की सिद्धि हो जाने पर 'महालय' की दशा आ जाती है। जिसमें साधक को आनंदानुभूति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार का बोध नहीं रह जाता किन्तु, राजयोग के द्वारा चित्स्वरूप का भाव आ जाने से उसे वह भी नहीं हो पाता और वह स्वयं सच्चिदानंद

---

१ M. B. Jhaveri : Comparative and critical study of Mantra Shastra (Ahmadabad, 1944). p. 41

२ सच्चिदानन्द विभवात्सकलात् परमेश्वरात्।

आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादा द्बिन्दु समुद्भवः ॥ ७ ॥

—शारदा तिलकत् (प्रथम पटल) पृ० ६।

रूप हो जाता है। हठयोग का परिणाम भी 'महाबोध' के नाम से अभिहित किया जाता है और वह लययोग के महालय से बहुत भिन्न नहीं कहा जा सकता, किन्तु मंत्रयोग की समाधि में 'महाभाव' की दशा आ जाती है जिसमें आरम्भ से ही उपासना की प्रवृत्ति रहने के कारण उसे कदाचित् कुछ भिन्न समझा जा सके। कुछ लोगों ने इन समाधियों के कारण उत्पन्न वैराग्य को भी भिन्न भिन्न प्रकार के नाम देना उचित समझा है। तदनुसार मंत्रयोग का वैराग्य जहाँ 'मृदु' कहलाता है वहाँ हठयोग का 'मध्यम' कहा जाता है और, इसी प्रकार, लययोग का जहाँ 'अधिमात्र' कह कर पुकारा जाता है वहाँ राजयोग के वैराग्य को 'पर' कहते हैं और ये विशेषण क्रमशः उसकी अधिकाधिक मात्रा सूचित करते जान पड़ते हैं वास्तव में, यदि वैराग्य व विरक्ति के आधार पर उपर्युक्त योगों का वर्गीकरण किया जाय तो राजयोग का स्थान इनमें सर्वोच्च ठहरेगा। राजयोग की विशेषता प्रमुखतः उसके ध्यान की अतिशयता व पराकाष्ठा में दीख पड़ती है जिससे चित्त में पूरी निर्मलता आ जाती है और इसमें किसी प्रकार के विषयादि का लेशमात्र भी नहीं रह जाता है[१] तथा वह शुद्ध व निरवलम्ब तक बन जाता है। राजयोग को इसी कारण कभी कभी 'ध्यानयोग' अथवा 'भावना योग' का भी नाम दिया गया है जो बौद्ध अथवा जैन योगियों की शब्दावली में अधिक प्रसिद्ध हैं।

बौद्ध सिद्धों ने जहाँ सहजावस्था का परिचय दिया है वहाँ उन्होंने यह भी बतलाया है कि वह दशा मनको मार कर शून्यवत् कर देने पर ही उपलब्ध होती है और यह मनोमारण केवल ध्यानयोग के ही द्वारा संभव हो सकता है। सिद्ध तेलोपा ने कहा है: "जिस समय चित्त खसम (ख=आकाश व शून्य+सम=समान) अर्थात् नितान्त निर्विषय व शून्य रूप होकर समरस के समसुख में प्रवेश करता है उस समय किसी भी इंद्रिय का विषय हमारे

१ h. B. Jhaveri : "Comparative and critical study of Mantra Shastra" p. 39-40.

अनुभव के बाहर रहता है। यह समसुख आदि एवं अन्त से रहित हुआ करता है और आचार्य लोग इसी को अद्वय का भी नाम देते हैं[1]।" ध्यान योग द्वारा मन के मारने की इस प्रक्रिया को शान्तिपा नामक एक अन्य सिद्धाचार्य ने रुई को धुनने के रूपक द्वारा स्पष्ट किया है। वे कहते हैं "रुई को धुनते-धुनते उसके सूक्ष्म से सूक्ष्म अंशों तक को निकालते चलो; फिर अन्त में देखोगे कि अंश अंश विश्लेषण करते-करते कुछ भी शेष नहीं रह जाता......जान पड़ता है कि रुई को धुनते-धुनते तुमने उसे शून्य तक पहुँचा दिया[2]।" फिर इसी बात को 'बोधिचर्यावतार' में भी किसी शिकार में मार कर लाये गये हिरण के मांसादि को पृथक् करने की क्रिया के एक अन्य रूपक द्वारा स्पष्ट किया गया है। वहाँ पर शान्तिदेव कहते हैं—"इस चर्म के आवरण को अपनी बुद्धि द्वारा पृथक् करो फिर अपने प्रज्ञाशस्त्र से अस्थिपंजर एवं मांस को भी अलग-अलग कर दो, हड्डियों को खंड खंड करके फिर उनके भीतर की मज्जा को तथा देहाभ्यन्तर वर्तमान तलदेश पर्यंत, इसी प्रकार, देख भाल करो। उस समय यदि अपने विवेक द्वारा स्वयं सोचोगे तो समझोगे कि अन्त में वस्तुतः कुछ भी शेष नहीं रह जाता। सभी कुछ

---

१ "चित्त खमम जहि समसुह पइट्ठइ।
[इन्दीअ-विसअ तहि मत्त] ण दीसइ।.५॥
आइ रहिअ एहु अन्त रहिअ।
वर गुरु पाअ अ [द्दअ कहिअ] ॥६॥ —"तेलोपादस्यदोहाकोष:"
(Calcutta Sanskrit Series. 25 C) पृ० १

२ "तुला धुणि धुणि आँसुरे आँसु।
आँसु धुणि धुणि णिरवर सेसु॥

× × × ×

तुला धुणि धुणि सुणे अहारिउ।"–'चर्यापद' (श्री मणीन्द्र मोहनवसु सम्पादित, कलिकाता), पृ० १२५।

निःसार मात्र है[1]। मन का आकार प्रकार पूरा करनेवाले संकल्प विकल्पादि को दूर करने पर भी इसी प्रकार केवल शून्य मात्र रह जाता है।

जैन योगियों के अनुसार ध्यानयोग वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा आत्मा अपने ही स्वभाव अथवा विशुद्ध रूप का अनुभव किया करता है। प्रत्येक आत्मा मूलतः 'सिद्ध मुक्तस्वरूप' है और इसी कारण 'परमात्म-स्वरूप' भी कहा जा सकता है। अतएव, जो आत्मा अपनी साधना के पथ पर अग्रसर हो रहा है और जिसका प्रत्यक्षीकरण किया जा चुका है उन दोनों में से हम किसी एक को दूसरे से बढ़ कर व घट कर नहीं मानते। ध्येय तत्व को हम परमात्मा इसलिए कहा करते हैं कि वह जीवात्मा का सर्वोच्च एवं सबसे विशुद्ध परमस्वरूप है। जैन धर्म के अनुयायियों में मंत्रवाद का प्रचार कम नहीं रहा है, किन्तु वह बौद्ध वज्रयानियों की भांति किसी पृथक् वर्ग का कारण न बन सका। उनके यहाँ नैतिक आचरण सम्बन्धी कठोर नियमों के रहते, जैन साधुओं की जीवन पद्धति में कोई शिथिलता नहीं आ सकी। जिन साधकों की ओर से कुछ भी नियम भंग होता जान पड़ा उन्हें 'निह्नव' कह कर निन्दनीय ठहराया गया। इसीलिए जैनियों का 'योगपदस्थ ध्यान' आज तक भी वैसे साधकों को आत्मोलब्धि में सहायता करता चला आया है। कम से कम तीर्थंकर पार्श्वनाथ से लेकर इधर के अनेक सिद्ध पुत्र, चैत्यवासी, आदि इसके लिए उनमें परमप्रसिद्ध हैं[2]।

सूफ़ियों की साधना में 'ज़िक्र' अर्थात् स्मरण व जप को बहुत बड़ा

---

१ "इयं चर्मपुटं तावत्स्वबुद्धचैव पृथक् कुरु।
अस्थिपञ्जरतो मांसं प्रज्ञाशस्त्रेण मोचय ॥
अस्थीन्यपि पृथक् कृत्वा पश्यज्ज्ञान मनन्ततः।
किमत्र सार मस्तीति स्वयमेव विचारय ॥"—शान्ति देवेर बोधिचर्यावतार 'विश्व भारती' १३५४। (५-३२-३), पृ० ३०।

२ 'Comparative and Critical Study of Mantrashastra' p. 293.

महत्व दिया जाता है, किन्तु उनके यहाँ भी योगसाधना की चर्चा की गई है। ग्यारहवीं ईस्वी शताब्दी के शेख अहमद नक्शबन्दी के विषय में कहा जाता है कि उन्होंने मानव शरीर के भीतर छः ऐसे स्थलों का पता लगाया था जो कंठ और नाभि के बीच में वर्तमान हैं और जो एक दूसरे को परिवृत्त करते हैं। इन्हें उन्होंने 'लतायफ़े सित्तह' का नाम दिया था और उनको इनके रंग का भी ज्ञान था। 'क़ल्ब' (हृदय को पीला कहा था, 'रूह' को लाल बतलाया का, 'सिर' का सफ़ेद होना माना था, 'ख़फ़ी' को काला ठहराया था 'इक़फ़ा' को हरा कहा था और 'नफ्स' को नीला कहा था तथा साधना द्वारा इन रंगों के बदलने का भी प्रसंग छेड़ा था। 'नफ्स' की शक्ति के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर उन्होंने श्वेतरंग की प्रबलता के बढ़ने का अनुमान किया था। उनका यह भी कहना था कि रूह का रंग बहुधा हरा भी दीख पड़ता है, किन्तु उसका अन्तिम रूप बिना किसी भी रंग का हो जाता है जिस दशा में कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं रह जाता और सालिक अथवा साधक 'फना' की स्थिति में पहुँच जाता है जिसे कभी-कभी 'आलमे हैरत' का भी नाम दिया जाता है। सूफियों के चिश्ती और क़ादरी संप्रदाय वाले 'हब्सेदम' को पूरा महत्व देते थे जो योगसाधाना के प्राणायाम जैसा ही था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने तो 'शग़ले नज़र' नामक एक प्रकार के ध्यान की साधना का भी परामर्श दिया था। जिसमें पलत्थी मार कर बैठा जाता है और अपनी आँखों की पलकों के बिना गिराए हुए केवल नासाग्र भाग की ओर देखा जाता है तथा ऐसा करते समय सदा ईश्वरीय ज्योति की कल्पना की जाती है। इसी प्रकार सूफियों के यहाँ 'शग़ले महमुदा' की भी चर्चा की गई है जिसमें साधक को अपनी दोनों भ्रुवों के बीच में दृष्टि डालनी पड़ती है जब तक हृदय में परमात्मा के दर्शन न हो जाय और यह साधना त्रिकुटी वाले ध्यान के समान है। 'शग़ले सौते सरपदी' का अभ्यास करते समय अपनी आँख, नाक, कान, मुखादि को दोनों हाथों से बन्द करके इस बात का पता लगाना पड़ता है कि पंचतत्वों में से कौन-सा अधिक प्रभाव में है तथा उस समय यह भी चेष्टा की जाती है कि जल की धारा के गिरने का शब्द

सुन पड़े जिसके अनन्तर फिर अनहद नाद भी सुनाई पड़ने लगता है इसके सिवाय सूफ़ियों की एक साधना जो 'जिक्रे पास ए अनफ़ास' कहलाती है सन्तों के अजपा जाप से बहुत मिलती जुलती है। इसमें प्रत्येक निःश्वास के साथ 'ला इलाह' का उच्चारण किया जाता है और उसी प्रकार प्रत्येक प्रश्वास के साथ 'इल्लल्लाह का जप चला करता है'[१]।

सूफ़ियों की साधना में योग साधना की बातों का प्रवेश ठीक किस समय हुआ यह निश्चित् रूप में कहा नहीं जा सकता। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उसकी बहुत सी इस प्रकार की साधनाओं का अभ्यास, विक्रम की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी अर्थात् सन्त साहित्य की रचना के आरंभ होने के समय तक अवश्य किया जाने लगा था और पश्चिमी भारत के कई स्थानों पर नाथ पंथी योगियों के प्रभाव में भी आ जाने के कारण, यह और भी सरल हो गया। नाथ-पंथियों के लिए कहा जाता है कि वे हठयोग पर ही विशेष बल देते थे और उनकी 'काया-साधना' भी बहुत प्रसिद्ध है। परन्तु गुरु गोरखनाथ की उपलब्ध रचनाओं के आधार पर यह भी कहा ठीक हो सकता है कि वे इसे राजयोग से अधिक महत्त्व नहीं देते थे। बौद्ध योगियों में अधिक प्रचलित ध्यान योग तथा जैनियों का 'भावना योग' ये दोनों ही राज योग के अनुसार किये जाते थे। इन लोगों ने तथा सूफ़ियों ने मन्त्र योग एवं लययोग से भी सहायता ली, किन्तु इन्हें उतना महत्त्व नहीं दिया। फिर भी सूफियों के यहाँ हमें राजयोग के प्रति उतना आकर्षण नहीं जान पड़ता जितना शेष तीन प्रकार के योगों की ओर और इसका कारण उनकी उस प्रवृत्ति विशेष में ढूंढा जा सकता है जिसके अनुसार वे अपने लक्ष्य को एक बहुत कुछ व्यक्तिगत केन्द्र के रूप में स्वीकार करते दीख पड़ते हैं। बौद्धों, जैनियों तथा वेदान्तियों के मतों में ज्ञान तत्त्व की प्रबलता है जो सदा निर्णय एवं स्पष्टीकरण की ओर प्रेरित करता रहता है जहाँ सूफ़ियों के सिद्धांत

---

१ Camparative and Critical Study of Mantrashastra p. 140-2.

प्रधानतः उस भावधारा से प्रभावित है जिसके अनुसार किसी पूर्व निश्चित् बिन्दु की ओर बढ़ना अपना कर्त्तव्य बन गया रहता है।

४ प्रेममार्गी साधना : प्रेम का विषय भारतीय विचारधारा के इतिहास में कोई नई बात नहीं है, किन्तु यहाँ इस पर स्वतन्त्र रूप में चिन्तन किया गया बहुत कम दीख पड़ता है तथा साधना से क्षेत्र में भी यह भक्ति के साथ केवल एक सहायक के रूप में ही आता जान पड़ता है। इसके पुराने भारतीय दृष्टान्तों में हम 'श्री मद्भागवत पुराण' की गोपियों का प्रसंग अवश्य ले सकते हैं, किन्तु वह भी बहुत कुछ अपवाद स्वरूप ही है। इसके सिवाय गोपियों के प्रेम को हम किसी साधना के रूपमें वर्णित भी नहीं कर सकते। यह और बात है कि पौराणिक दृष्टि से विचार करते समय हम इन्हें भगवान् श्री कृष्ण की आराधिका मान लें तथा उनके लिए किसी आध्यात्मिक लक्ष्य की भी कल्पना कर लें। किन्तु उनके प्रेमभाव को केवल किसी अमिश्रित भक्ति भाव का भी रूप दे देना उनकी तत्कालीन परिस्थिति के सर्वथा अनुकूल नहीं जँचता। व्रज की गोपियों के लिए अधिक स्वाभाविक यही हो सकता है कि वे अपने समाज के ही सदस्य किसी सुन्दर बालक की मनोहारिणी अठखेलियों पर पूर्ण रूप से मुग्ध हो जाएँ और उसके क्षणिक वियोग तक के सहन करने में अपने को असमर्थ प्रदर्शित करें। उनका अपने निजी परिवार के लोगों अथवा घरेलू काम काज के प्रयत्नों तक को छोड़ बैठना, इस दृष्टि से भी असंभव नहीं कहा जा सकता। पौराणिकता के पर्दे से निरावृत कर दी जाने पर वे उन विशुद्ध प्रेमिकाओं सी ही लगती हैं जिनका प्रेम की हाट में आपसे आप बेमोल बिक जाना अपना स्वभाव है, उन्हें किसी प्रेम साधना का पाठ पढ़ने व उसका अभ्यास करने की लेश मात्र भी आवश्यकता नहीं है। ऐसी नारियों के मानसपटल अथवा हृदयस्थल को किसी आध्यात्मिक प्रवृत्ति के भी रंग में भी रंजित कर देने की चेष्टा वैसी सुसगत नहीं प्रतीत होती।

अपने इष्टदेव के प्रति प्रदर्शित प्रेमभाव में आत्म विभोर बन जाने वाली नारियों में गोदा, राबिया, मीरा आदि के नाम लिये जा सकते हैं

जिन्हें अपने उस प्रेमपात्र के साथ किसी प्रकार के भौतिक सहवास का कभी कोई अवसर नहीं मिल पाया और जिन्हें, उस आनन्द की काल्पनिक व अभीष्ट घड़ी की प्रतीक्षा, में सर्वथा घुलते-घुलते अपना सारा जीवन व्यतीत कर देना पड़ा। इन्होंने, उसके लिए की जाने वाली साधना के निमित्त उस परोक्ष के प्रत्यक्षीकरण का कठिन अभ्यास किया, उस अव्यक्त के साथ विश्रंभालाप का अभिनय किया, उस अशरीरी के साथ गाढ़ालिंगन का स्वप्न देखा और उसके रहस्यपूर्ण विरह में तीव्र वेदना का भी अनुभव किया। जहाँ तक उनके प्रयत्नों का संबंध, प्रेम भाव को किसी भौतिक स्तर पर प्रतिफलित कर देने का, रहा उन्हें सफल कह देना, कदाचित् संभव न कहला सके, किंतु इस बात में किसी प्रकार के संदेह की गुंजायश नहीं कि उनकी प्रेम साधना एक सच्चे भावुक हृदय द्वारा अनुप्राणित रही। उन्हें तो अपनी साधना में नारी हृदय का नेतृत्व मिला था जो तदनुकूल दाम्पत्यभाव के क्षेत्र में उन्हें, अपने सुपरिचित मार्ग से ही, ले जा सकता था, किंतु जिन साधक भक्तों, को ऐसी सुविधा उपलब्ध नहीं थी उन्हें भी इस मार्ग में चलते कोई वैसी बाधा नहीं पड़ी। वास्तव में व्यापक प्रेम भाव की साधना में प्रवृत्त लोगों के लिए यह आवश्यक नहीं कि वे किसी अमुक संबंध का ही माध्यम स्वीकार करें और किसी दूसरे को अपने लिए वैसा उपयुक्त न समझें। किसी संबन्ध विशेष का माध्यम प्रेम साधना के साधक की उस प्रवृत्ति का परिचय मात्र देता है जिसके अनुसार वह अपने प्रेम भाव को अधिक से अधिक तीव्र बनाने में समर्थ है। सशक्त प्रेमी साधक चाहे जिस संबन्ध के भी माध्यम को अपनावे उसमें तीव्रता और गम्भीरता की कमी नहीं आ सकती। जीवात्मा भक्त के लिए उसका इष्टदेव परमात्मा उसका पति, पिता, माता, सखा, गुरु, शिशु व पत्नी कुछ भी हो सकता है और, इसी लिए, ऐसे किसी भी संबन्ध को माध्यम स्वीकार करते हुए, उसे, केवल तदनुरूप स्थान ग्रहण कर अपने भाव को अधिक से अधिक प्रगाढ़ता प्रदान करना है।

प्रेममार्गी साधक की मनोवृत्ति का रूप कुछ विचित्र सा रहा करता है।

साधारण भक्तों में श्रद्धा का भाव अधिक दीख पड़ता है। वे अपने इष्टदेव को स्वाभावतः अपने से अधिक उच्चकोटि का मानते हैं और उसके अतिनिकट पहुँचना असंभव समझते हैं। वह उनसे बड़ा है। उन पर दया भाव प्रदर्शित कर सकता है और गाढ़े अवसर पर उनकी सहायता भी कर सकता है। अतः वे उसे प्रसन्न करने के लिए स्तुतिगान करते हैं, उसका पूजन अर्चन करते हैं और उससे अपने प्रति कृपा कटाक्ष की याचना करते हैं। हनुमान तो श्रीरामचन्द्र के सेवक हैं ही श्रीकृष्ण के सखा अर्जुन एवं उद्धव तक उन्हें अपने से बड़ा तथा अधिक ऐश्वर्यवान् मानते हैं। पौराणिक ग्रंथों व भक्ति-संबंधी प्रसिद्ध काव्यों में कभी-कभी, वय अथवा संबंध में छोटे होने पर भी, श्रीकृष्ण व श्रीराम के प्रति भीष्म पितामह, उग्रसेन और युधिष्ठिर व वशिष्ठ, जनक और अगस्त्य द्वारा श्रद्धा एवं भक्ति का भाव प्रदर्शित कराया गया है। परन्तु प्रेम मार्गी साधना के भक्तों में इस प्रकार के किसी अंतर का पाया जाना कभी संभव नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध दशा में पाया जाने वाला प्रेमभाव किसी भक्त को अपने इष्टदेव से अधिक दूरी पर खड़ा रहने देना कभी पसन्द नहीं कर सकता। वह उसके न केवल निकट से निकट रहना चाहेगा और उससे सांनिध्य का सर्वदा अनुभव करता रहेगा, प्रत्युत वह उसके साथ 'एकमेक, और तद्रूप बन जाने तक की अभिलाषा प्रदर्शित करेगा।

वास्तव में विशुद्ध प्रेमभाव केवल तभी संभव भी है जब प्रेमी एवं प्रेमपात्र के बीच किसी प्रकार का स्तरभेद न पाया जाय। अतः प्रेममार्गी भक्त यदि अपने को, अपने इष्टदेव से सर्वथा निम्नतर कोटि का मान कर, की जाती है तो वहां अपने प्रेमपात्र के प्रति भय, दैन्य, दासत्व अथवा ग्लानि के मनोविकार भी प्रदर्शित करने पड़ जाते हैं और, इसी प्रकार, यदि वह अपने को, संबंध विशेष के कारण, उससे कुछ ऊंचे स्तर की कल्पना करके, की जाती है तो प्रेमीभक्त का हृदय किसी न किसी प्रकार गर्व व बड़प्पन के भावों का भी अनुभव करने लग जाता है और ऐसी दशामें प्रेमभाव का उत्कर्ष बहुत कुछ परिमार्जित भी हो जाता है। इसमें वैसी तीव्रता नहीं रह

जाती।[1] प्रेम की सबसे बड़ी विशेषता किसी प्रेमी के अंतस्तल में घनिष्ठ आत्मीयता का भाव जागृत करने में देखी जाती है जो तादात्म्य तक बढ़ जा सकता है। दाम्पत्य भाव की भक्ति में यह सबसे अधिक स्पष्ट जान पड़ता है, किन्तु यहाँ पर भी इसमें तब तक पूरी प्रगाढ़ता नहीं आ पाती जब तक प्रेमी भक्त और उसके प्रेम पात्र इष्टदेव के बीच किसी प्रकार के तात्विक भेद अथवा भिन्नता के लिए कोई कारण बना रह जाता है। पति एवं पत्नी दोनों एक ही स्तर के व्यक्ति हो सकते हैं और पत्नी पति की अर्द्धांगिनी तक मानी जा सकती है, किन्तु शरीर भेद के कारण उन दोनों में तात्विक अभिन्नता नहीं आ पाती। यह पूर्णतः सम्भव तभी हो सकती है जब दोनों की अद्वैतता सिद्ध की जा सके और वह केवल आत्मतत्व को अद्वैत मान कर चलने पर ही सिद्ध की जा सकती है।

प्रेमभाव सदा भिन्न को अभिन्न एवं बहुत्व को एकत्व में परिणत करने की ही ओर सचेष्ट रहता है जिसका तात्पर्य यह नहीं कि वह इन दोनों प्रकार की भावनाओं को सर्वथा निर्मूल कर दे और अनेकता एवं विचित्रता का कोई अस्तित्व ही न रह जाय। प्रेमभाव की एक यह भी बहुत बड़ी विशेषता है कि वह अपना प्रसार चाहता है तथा एक सच्चे प्रेमी के द्वारा अपने आपको ही बहुगुणित रूप दे देना पसन्द करता है। वह एक ही साथ केन्द्रीकरण और विकेन्द्रीकरण इन दोनों कार्यों में निरत रहा करता है। कहा गया है कि सृष्टि के पहले परमात्मा अपनी अद्वैतता के कारण आत्मप्रेम में ही लीन था, किन्तु उस प्रेम को बाह्य रूप में भी अनुभव करने की इच्छा से, उसमें 'असत्' से 'सत्' उत्पन्न किया और अपने प्रतीक के रूप में उसने मनुष्य का भी निर्माण किया तथा, इस प्रकार, वह एक से अनेक हो गया[2]। अतएव, जब कभी हम आत्मतत्व की अद्वैतता के कारण उसके साथ

---

१ परशुराम चतुर्वेदी : 'हिन्दी काव्यधारा में प्रेम-प्रवाह' किताब महल, प्रयाग २००६, १९५२) पृ. ६-७।

२ Nicholson : "Studies in Islamic mysticism" p. 80

समरसता का अनुभव करने लग जाते हैं यह स्वाभाविक है कि हम भी उसी की भांति आत्मप्रेम के विस्तार में प्रवृत्त हो जाय। यह एक अत्यन्त साधारण-सा अनुभव है कि आत्मीयता का भाव हमारे लिए कोई 'अहं' एवं 'इदं' के बीच का अन्तर नहीं सहन कर सकता। यह गुण एवं संख्या जन्म प्रत्येक भेद पर अपना एक विचित्र पर्दा डाल देता है तथा उन सभी को अपने निजी रंग में रंग कर एक भाव भी कर देता है। दूसरे शब्दों में तात्विक अद्वयता की अनुभूति नाम एव रूप की सभी बाधाओं से परे की बात हैं और यह अपने सच्चे रूप में तभी सम्भव हो सकती है जब, प्रेममार्गी साधना वाले प्रश्न के सम्बन्ध में, इसका साधक किसी निर्गुण, निराकार एवं निरपेक्ष को ही अपना लक्ष्य बनाए। ऐसे इष्टदेव के प्रति प्रदर्शित प्रेमाभक्ति में उसके प्रति किसी भी संबंध के माध्यम की कल्पना कर अग्रसर होना संभव है तथा यह भी पूर्णतया सम्भव है कि, उस एक के साथ तद्रूपता का अनुभव कर लेने पर, फिर बाह्य अनेकता में भी एकता का भान होने लग जाय।

प्रेममार्गी साधना वाले के लिए यह कहा गया है कि वे अपने प्रेमभाव के सागर में सदा निमग्न रहने के कारण, सर्वत्र अपने इष्टदेव का ही अनुभव करते हैं—"उसी को देखते हैं, उसी को सुनते हैं, उसी से वार्तालाप करते हैं तथा उसी एकमात्र का चिन्तन भी किया करते हैं।"[1] वह प्रेमी भक्त के रोम-रोम में व्याप्त हो कर उसे अपने रंग में पूर्णतः रंग दिया करता है जिसका कारण उसकी दशा सदा और की और ही हो जाती है। उसकी केवल अपनी मनोवृत्ति ही नहीं बदल जाती, प्रत्युत उसके जीवन में भी आमूल परिवर्तन हो जाता है और वह सदा के लिए विकसा जाता है। प्रेमी भक्त के ऊपर इतनी गहरी मादकता बनी रहती है कि वह कभी अपने आत्म-निरीक्षण के द्वारा प्रेमभाव के सूक्ष्मतर तन्तुओं की परीक्षा भी नहीं करता।[2]

---

१ "तत्प्राप्य तदेवावलोकयति, तदेव शृणोति, तदेव भाषयति, तदेव चिन्तयति" (नारद 'भक्ति सूत्र' सूत्र ५५।

२ परशुराम चतुर्वेदी : 'हिन्दी काव्य धारा में प्रेम-प्रवाह' पृ० ५-६।

एक सच्चे प्रेममार्गी भक्त पर उस निवृत्ति मार्ग का कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता जिसके अनुसार दृश्यमान जगत् भगवान् से पृथक ले जाने वाली वस्तु हो और, इसके प्रति विरक्ति का भाव प्रकट कर, कहीं किसी अन्य लोक में भाग निकलने का प्रबन्ध किया जाय। वह अपने आप को संकुचित बना कर कहीं कोने में बैठ जाने की कभी कल्पना भी नहीं करता। वह अपना अधिक से अधिक विस्तार कर देना चाहता है, जिससे वह, अपने इष्टदेव की भाँति उसके सच्चे रूप में, स्वयं अपने को भी निःसीम बना दे और उसकी दृष्टि में न तो कोई अपने पराये का भेदभाव रह जाय और न ऐसी किसी भावना के कारण वह किसी वस्तु को कभी 'निज' की व 'अन्य' की ही कह सके। उसके लिए वस्तुतः स्वार्थ एवं परमार्थ में कोई भेद नहीं रह जाता और वह एक ही साथ अपने आपका तथा विश्व का भी कहला सकता है। वैसी दशा में यदि वह किसी के प्रति कभी द्वैतभाव के साथ भी देखता है व जिसके साथ उसने अद्वैतता का भाव स्थापित किया स्वयं उसे भी यदि वह, स्वामी, सखा, पति, शिशु वा पत्नी भाव के सम्बन्ध से, किसी अन्य रूप में अर्थात् अपने से पृथक् मान कर देखा करता है तो उसे, किसी प्रकार प्रेमानन्द की कमी का अनुभव नहीं हो पाता। वह कभी कभी जान-बूझ कर भी ऐसा किया करता है। किसी ने कहा भी है—समरसता का आनन्द मिलने लगने पर द्वैतभाव भी अमृतवत् सुखप्रद बन जाता है और वह चाहे जीवात्मा एवं परमात्मा के बीच का हो अथवा पति-पत्नी आदि के सम्बन्ध का ही हो उस आनन्द में किसी प्रकार की शून्यता नहीं आने पाती।[1]

प्रेम मार्गी साधना को प्रेमाभक्ति का भी नाम दिया गया है और यहाँ उसकी चर्चा बहुत दिनों से होती चली आई है। उपनिषदों में आत्मा के अनुभव का महत्व बार-बार बतलाया गया है और स्वानुभूतिजन्य अपूर्व परिणाम के आनन्द का वर्णन भी कई स्थलों पर मिलता है। 'भगवद्गीता'

---

१ जाते समरसानंदे, द्वैतमप्यमृतोपमम्।
जीवात्मपरमात्मनोः॥

के अन्तर्गत भी, एक किंचित् भिन्न प्रसंग में, कहा गया है कि ऐसा साधक "ब्रह्मभूत हो जाने पर प्रसन्न चित्त हो कर न तो किसी की आकांक्षा ही करता है और न किसी का द्वेष ही; तथा समस्त प्राणिमात्र में सम हो कर मेरी परम भक्ति को प्राप्त कर लेता है। भक्ति से उसे मेरा तात्त्विक ज्ञान हो जाता है कि मैं कितना हूँ और कौन हूँ; इस प्रकार तात्त्विक पहचान हो जाने पर वह मुझ में ही प्रवेश करता है और मेरा ही आश्रय कर, सब कर्म करते रहने पर भी उसे मेरे अनुग्रह से एवं शाश्वत अव्यय स्थान प्राप्त होता है।[1]" "जो कोई मेरा भजन भक्तिपूर्वक किया करता है वह मुझ में है और मैं भी उसमें हूँ।[2]" जहाँ कहा गया है वह उन सभी के लिए कहा गया है जो प्रेमभक्ति को अपनाते हैं। उन्हीं के लिए अन्यत्र इस प्रकार भी कहा गया है: "जो मुझे सर्वत्र देखता है और सबको मुझ में देखता है उसकी आँखों से मैं कभी ओझल नहीं होता और न वही कभी मेरी आँखों से ओझल हो पाता है।[3]" देवर्षि नारद ने भक्ति को "ईश्वर के प्रति प्रेम-रूपा"[4] ही कहा है और इसकी कुछ और भी अधिक व्याख्या करते हुए, उन्होंने यह भी बतलाया गया है "अपने सब कर्मों को भगवान् के अर्पण करना और उनकी किंचित् भी विस्मृति होने में, परम व्याकुल हो

---

१ "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु, मद्भक्तिं लभते पराम् ॥५४॥
भक्त्या मामभिजानाति, यावन्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनंतरम् ॥५५॥
सर्वकर्माण्यपि सदा, कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसाद वाप्नोति, शाश्वतं पद मव्ययम् ॥५६॥ 'गीता' (अध्याय १८)

२ "ये भजंति तु मां भक्त्या मयिते तेषु चाप्यहम्" ॥२९॥ वही (अ. ९)

३ "योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति" ॥३०॥ वही (अध्याय ६)

४ "सात्वस्मिन् परम प्रेमरूपा" 'नारद भक्ति सूत्र' सूत्र २

उठना ही भक्ति का लक्षण है।"[1] "भगवान् और उनके भक्त में कोई अन्तर नहीं है।"[2] इत्यादि। सन्त कबीर साहब ने सम्भवतः इसी भक्ति का उल्लेख करते हुए अपने एक पद में कहा है "नारदी भक्ति में मगन रह कर भव पार करो।'[3]

सन्तों के साहित्य की रचना का आरम्भ होने के पहले से ही भगवान् के प्रति माधुर्य रस की भक्ति वाली साधना प्रचलित हो चुकी थी। 'श्रीमद्भागवत पुराण' की रचना का ठीक-ठीक समय विदित नहीं, किन्तु उसके भी एक श्लोक से पता चलता है कि श्रीकृष्णचन्द्र की विविध शृङ्गारिक क्रीड़ाओं के समर्थन में उसके रचयिता ने कुछ ऐसा ही कारण दिया है जिससे उक्त प्रकार की साधना की पुष्टि होती है। वहाँ आता है "मानव शरीर धारी श्रीकृष्ण ने भक्तों के अनुग्रहार्थ वैसी क्रीड़ाएँ कीं जिन्हें जान कर वे तदनुसार आचरण कर सकें[4]।' और इस श्लोक की टीका लिखते समय श्रीधर स्वामी ने बतलाया है: "उन्होंने ऐसा इसलिए किया कि जो लोग अधिकतर विषयासक्त रहा करते हैं उनके लिए भक्तिसाधना का एक उपयुक्त मार्ग निकल आ सके।"[5] भक्तों द्वारा की जानेवाली इस प्रकार की साधना को 'परकीया रस' का भी नाम दिया गया है तथा इसे 'वैधी भक्ति' के विपरीत 'रागानुगा' विशेषण के साथ भी अभिहित किया गया है। इसका विशेष प्रचार वैष्णवों के उस सम्प्रदाय में हुआ जो पीछे 'सहजिया' के नाम से प्रचलित

---

१ "तदर्पितखिला चारित तद्विस्मरणे परम व्याकुलेति" 'नारद भक्ति सूत्र' १९

२ "तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात्" वही सूत्र ४१

३ "भगति नारदी मगन सरीरा। इति विधि भवतिरि कहै कबीरा"

'कबीर ग्रन्थावली' (पृ० १८३)

४ "अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देह माश्रितः।
भजते तादृशीः क्रीडाः या श्रुत्वा तत्परोभवेत्॥"

श्रीमद्भागवत (१०।३३।३६)

५ "श्रृंगाररसाकृष्ट चेतसो बहिर्मुखान्यपि स्वपराानि कर्तुमिति भावः" वही

हुआ और जो बहुत दूर तक बौद्धों के सहजिया सम्प्रदाय द्वारा भी प्रभावित समझा जा सकता है। किन्तु माधुर्य रस व दाम्पत्य भाव की भक्ति साधना के कुछ उदाहरण हमें तमिल प्रान्त के आडवार भक्तों की रचनाओं में भी उपलब्ध हैं। चौथी ओरियंटल कान्फरेंस के इलाहाबाद वाले सन् १९२६ ई० के अधिवेशन में एक निबन्ध पढ़ा गया था जिसमें इसकी चर्चा पायी जाती है। उसमें कहा गया है कि "तमिल प्रबन्धों में आडवारों ने जिस वैष्णवधर्म का चित्रण किया है उसकी प्रेमाभक्ति को हम दाम्पत्य भाव का ही नाम देंगे। यह वस्तुतः उसी प्रकार का है जिसका प्रचार, पीछे बंगाल में, चैतन्य संप्रदाय वालों में भी हुआ। यहाँ पर उस भक्ति का वर्णन शठगोप (नम्मलवर), परकाल (तिरुमंगल) जैसे आडवारों ने अपनी 'तिरुवाय मोली' और 'पिरु मोली' रचनाओं में किया है जिसकी ओर वेदान्त देशिक ने भी संकेत किया है[1] उनका कहना है कि आडवारों ने भगवान् की भक्ति के लिए दाम्पत्य भाव का आश्रय लिया है और उसके विरह की कथाएँ गढ़ी हैं। शठगोप ने उन सभी भावों का प्रदर्शन किया है जो राम के प्रति भरत और लक्ष्मण के स्नेह में प्रकट हैं अथवा जो सीता के प्रेम में व्यक्त हुए हैं तथा जिन्हें गोपियों के द्वारा श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित दृढ़ानुराग द्वारा उदाहृत किया जाता है। इन आडवारों के लिए भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी पुरुष नहीं, क्योंकि दूसरे सभी स्त्री रूप हैं। नम्मलवार ने उन तीन रसों की चर्चा की है जो भगवान् के प्रति प्रदर्शित भक्ति में क्रमशः पुष्टि पाते हैं और वे सख्य, वात्सल्य एवं मधुर रस हैं।" निबन्ध लेखक का यहाँ तक कहना है कि "तमिल वैष्णवों के इस नायक-नायिका भाव का पता श्री शंकराचार्य को भी अवश्य रहा होगा क्योंकि, 'भगवतद्गीता' के एकादश अध्याय के ४४ वें श्लोक पर भाष्य लिखते समय, उन्होंने इस बात की ओर कुछ संकेत किया है[2]।"

---

१ दे० गोदास्तुतिः।

२ Report of the fourth oriental conference (1926) Allahbad pp. 194--8.

किन्तु सन्त साहित्य का प्रारंभिक रचनाओं के समय तक यहाँ पर सूफ़ियों की प्रेम साधना भी प्रचलित हो चुकी थी। हिन्दी के सूफ़ी कवियों में से कम से कम मुल्ला दाऊद ने अपनी 'चन्दायन' व 'लोरेक चन्दा' की रचना हि० स० ७८१ (सं० १४३६) में की और इसके अनन्तर फिर क्रमशः शेख कुतबन की 'मिरगावति', (सं० १५६०) जायसी की 'पदुमावति', (सं० १५६७) मंझन की 'मधुमालति', (सं० १६०२) आदि का निर्माण भी होता चला गया। इन सूफ़ियों की प्रेम गाथाओं के अध्ययन से पता चलता है कि उन्होंने 'मारिफ़त' को बहुत बड़ा महत्व दिया है जो बुद्धिप्रसूत ज्ञान न हो कर हृदयप्रसूत अनुभूति है और इसका प्रमुख उद्देश्य, हृदय को स्वच्छ दर्पण की भाँति निर्मल कर उसमें परमेश्वर का प्रतिबिम्ब ग्रहण करना है। इस मारिफ़त के ही भावावेगमय रूप को 'इश्क' का भी नाम दिया जाता जिसकी दशा तक पहुँच कर साधक आत्मविस्मृत हो जाता है। इस इश्क की एक वह स्थिति भी आती है जिसे 'वज्द' व उन्मादना कहते हैं और जिसकी परिणति प्रायः 'वस्त' व मिलन में हो जाती है। सूफ़ियों ने इस प्रकार की विभिन्न स्थितियों को 'मुकामात' व सोपानों की संज्ञा दी है और इन चारों के पहले के लिए भी उन्होंने अन्य सात ऐसे ही मुकामात गिनाए है जो अधिकतर नैतिक आचरण आदि से ही सम्बन्ध रखते हैं। सूफ़ियों की प्रेम गाथाएँ रूपकात्मक प्रेम कहानियाँ हैं जिनमें प्रत्यक्ष रूप में तो कोई न कोई प्रेम कथा ही कही गई है, किन्तु जिनका सर्व प्रमुख उद्देश्य प्रेम साधना का वर्णन करना है और, ऐसा करते समय, उनके रचयेता 'कथाच्छलेन' प्रायः ऐसी सभी बातें कह डालते हैं जो उसके प्रधान अंग हैं। इन लोगों ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत प्रसंगवश उस योग साधना का भी न्यूनाधिक उल्लेख कर दिया है जिसकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। सूफ़ी कवियों की ऐसी प्रेम कहानियों में जो सब से उल्लेखनीय

---

२ "सूफ़ी काव्य-संग्रह" (सं० परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सन् १९५१ ई०) भूमिका पृष्ठ ३१।

बात दीख पड़ती है वह प्रेमी जीवात्मा को नायक तथा प्रेम पात्र परमात्मा को नायिका के रूप में चित्रण करना है जो भारतीय प्रेम साधना की पद्धति के सर्वथा विपरीत पड़ता है।

घ. धार्मिक

इसमें सन्देह नहीं कि, धार्मिक एवं सांप्रदायिक दृष्टियों से देखने पर, सन्त साहित्य के अन्तर्गत, हमें हिन्दू धर्म एवं वैष्णव संप्रदाय की ही विचार-धारा तथा साधना-पद्धति की प्रधानता जान पड़ती है। सर्व प्रथम ज्ञात सन्त जयदेव से लेकर सर्व प्रधान कबीर साहब तथा आधुनिक सन्त शिवदयाल (राधास्वामी) आदि तक की रचनाओं में हमें इसी प्रवृत्ति की पुष्टि होती दीख पड़ती है। परन्तु, जैसा सन्तों की अधिकांश रचनाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जा सकता है, उन्होंने अपने मत व साधना को कभी किसी भी परिधि विशेष के ही भीतर सीमित रखने की चेष्टा नहीं की और न सत्य के किसी भी अंश को उन्होंने अन्यत्र से ग्रहण करने में कभी संकोच ही किया। सन्त-साहित्य की यह कभी विशेषता नहीं रही कि उस पर हम किसी विचार धारा अथवा साधना का कोई प्रभाव नहीं पा सकते और न यही कि उसके भीतर सभी धर्मों एवं संप्रदायों की अच्छाइयों का निचोड़ संचित किया गया है। यह साहित्य न तो नितान्त नवीन बातों का कोई भण्डार ही कहा जा सकता है और न सब कहीं से चुनी गई उत्तम बातों का हम इसे कोई समुच्चय कोश ही कह सकते हैं इसके रचियताओं में अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो सर्वसाधारण की श्रेणी के हैं और जिनका किसी न किसी धर्म व संप्रदाय से सम्बन्ध भी रहा है। परन्तु उन्होंने अपने ऐसे किसी भी मार्ग का अन्धानुसरण करना कभी स्वीकार नहीं किया और उसकी प्रत्येक बात को अपने अनुभव की कसौटी पर पहले कस लेने का प्रयत्न किया। उन्होंने जो कुछ भी लिया उसे देख भाल करके लिया और उसे सर्वथा अपना बना कर ही लिया तथा उसे अपने जीवन के सांचे में ढाल भी डाला। अतएव, विभिन्न स्रोतों से उप-

लब्ध बातों को वे बहुधा अपने ही ढंग से कहते जान पड़ेंगे और, ऐसी दशा में हमारे लिए, कभी-कभी इस बात का निर्णय करना कठिन भी हो जाता है कि हम उन्हें किसी प्रश्न पर किस अंश तक आभारी मानें। फिर भी इस बात के जानने का प्रयत्न किया जा सकता है कि, सन्त-साहित्य की रचना का आरम्भ होने के समय तक, कौन सी धार्मिक प्रवृत्तियाँ काम करती आ रहीं थी। जिनसे इसके रचियिताओं को विशेष प्रेरणा मिल सकी थी तथा जिनके कुछ न कुछ अंश इसे, इसके प्रारंभिक युग से ही, प्रभावित कर सकते थे।

हिन्दू धर्म के अनुयायियों को कुछ लोगों ने स्थूल रूप से चार विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की चेष्टा की है और उन्हें क्रमशः स्मार्त, शैव, वैष्णव एवं शाक्त कह कर उनके मतों को वस्तुतः भिन्न-भिन्न ठहराया है। स्मार्त, उनके अनुसार वे हैं जिन्हें हम परम्परावादी कह सकते हैं और जो, बौद्ध धर्म का उदय होने के पहले से ही, ब्राह्मण धर्म को प्रायः एक ही ढंग से अपनाए चले आ रहे हैं। इनकी संख्या आज भी बहुत बड़ी कही जा सकती है और ये अभी तक प्राचीन कर्मकांड, बहुदेववाद तथा विश्वदेववाद के किसी न किसी शुद्ध व परिमार्जित रूप का अनुसरण करते हैं। वैष्णव एवं शैव एकदेववादी हैं यद्यपि, उनके इस मत के स्वीकार कर लेने पर भी, उनके विश्वदेववादी होने में कोई बाधा नहीं पड़ती। इनके एक दूसरे के इष्टदेव को, देवता रूप में मान लेने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु ये उसे सर्वप्रमुख स्थान दे कर उसे परमेश्वर भी नहीं स्वीकार कर सकते। कभी कभी ऐसा भी प्रयत्न किया गया है कि दोनों देवों की कल्पना एक संयुक्त 'हरिहर' अथवा त्रिदेव अर्थात् ब्रह्म, विष्णु एवं शिव के रूप में भी कर ली जाय, किन्तु, इस दशा में उसे एक व्यक्तित्व प्रदान कर उसके प्रति उपासना करने में सदा अड़चनें आ जाया करती रही हैं। वैष्णवों ने ऐसे व्यक्तित्व को विशेष महत्व दिया है और उन्होंने राम, कृष्ण, जैसे अवतारों की कल्पना तक करके अपनी उपासना पद्धति को पूर्ण प्रश्रय दिया है। स्मार्तों और इनमें एक अन्तर इस बात का रहा है कि वे जहाँ अपने पंचदेव (शिव, विष्णु, शाक्त, सूर्य एवं गणेश) अथवा बहुदेव को मूलतः एकदेव के रूप में स्वीकार करते हैं

जो वैदिक विचार धारा के भी अनुकूल है वहाँ वैष्णवों तथा शैवों को इस बात में विश्वास है कि उनका इष्टदेव ही, चाहे वह विष्णु व शिव हो, सभी कुछ है और वही वस्तुतः एकदेव भी कहा जा सकता है। शाक्त धर्म के अन्तर्गत इन तीनों की ही अनेक बातें दीख पड़ सकती हैं, किन्तु वह फिर भी इनसे बहुत भिन्न है। शाक्त लोग, किसी आदि शक्ति में आस्था रखते हुए, उसे व्यक्तित्व प्रदान करते हैं, किन्तु वे स्मार्तों की भाँति प्राचीन पूजा पद्धतियों में भी विश्वास करते हैं। इनकी इष्टदेवी के अनेक नाम एवं रूप भी हैं और इनके पूजन-अर्चन के लिए विविध बलिदानों तक की व्यवस्था की गई है। इनके प्रमुख आधार ग्रन्थों को आगम व तन्त्र कहते हैं[१]।

स्मार्तों को सदा वेदों के प्रति पूर्ण आस्था रही है और, इसी कारण, उनसे कुछ भी विरुद्ध जाते समझ पड़ने वाले सम्प्रदायों का उन्होंने घोर विरोध किया है तथा अपनी परम्परागत विचारधारा एवं साधना-पद्धति का जी तोड़ प्रतिपादन भी किया है। आठवीं एवं नवीं ईस्वी शताब्दी के ऐसे दो स्मार्त महापुरुष कुमारिल एवं शंकराचार्य थे जिन्होंने इस ओर विशेष प्रयत्न किए। शंकराचार्य ने अपने भाष्यों द्वारा वेद विरुद्ध जाने वाले मतों का खण्डन कर उनके स्थान पर अपने स्मार्त धर्म अथवा पुनर्व्यवस्थित वैदिक धर्म के मत की स्थापना की और ऐसा करते समय उन्होंने उन लोगों की भी आलोचना की जो वेदों के वाक्यों को, एक विशेष ढंग से, नहीं समझते थे। उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त को वेदसम्मत दार्शनिक आधार देना चाहा और उसी दृष्टिकोण से, उन्होंने प्रत्येक आवश्यक साधना के महत्व पर भी विचार किया। इस दार्शनिक आधार का नाम 'वेदान्त' है जो प्राचीन उपनिषदों के अनुसार प्रतिपादित मत का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु धार्मिक कृत्यों तथा सदाचारादि की व्यवस्था के लिए स्मृति ग्रन्थों की भी सहायता स्वीकार की जा सकती थी और कदाचित् इसी कारण, इस मत को

---

१ Sir Charles Eliot : "Hinduism and Buddhism" Vol. I XXXV—VI

'स्मार्त्त धर्म' का नाम दिया गया। शंकराचार्य स्वयं पूरे दार्शनिक थे और परमतत्त्व को उसके निरपेक्ष रूप में स्वीकार करते हुए, निर्गुणपरक अद्वैतवाद का समर्थन करते थे। अतएव, उनके लिए शैव, वैष्णव अथवा शाक्त का विशेषण देना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। फिर भी उनके सिद्धान्त-प्रतिपादन की प्रणाली का अनुसरण कर अनेक अन्य आचार्यों ने भी अपने-अपने वैष्णव, शैव अथवा अन्य कई मतों की प्रतिष्ठा करने के प्रयत्न किए और, इस प्रकार, जो सिद्धान्त पहले बहुधा केवल विश्वास पर ही आश्रित समझे जाते थे उन्हें तर्क सिद्ध बना डालने की भी परम्परा चल निकली।

वैष्णव धर्म के इतिहास से पता चलता है कि उसके इष्टदेव का मूल रूप, कम से कम, 'ऋग्वेद संहिता' तक में सुरक्षित है। इस ग्रन्थ की रचना के समय तक ये पहले एक आदित्य मात्र समझे जाते थे और उनका सारे आकाश मंडल व सारे ब्रह्मांड तक का अपने तीन डगों से ही माप देना तथा उनके तीसरे डग तक अंतरिक्ष, में किसी का भी न पहुँच पाना प्रसिद्ध था।[1] उनका वह डग 'परमपद' का स्थान भी निश्चित् करता था।[2] किन्तु वे पीछे इन्द्र के सहायक से ले कर क्रमशः उनसे बड़े भी कहलाने लगे और उनकी प्रायः सभी उपाधियाँ इन्हें प्राप्त हो गईं।[3] इसी प्रकार वैष्णव धर्म के उपास्य देव नारायण का भी नाम उस ग्रन्थ में पाया जाता है और वह सारी सृष्टि के आधार स्वरूप देव का बोधक है। इस नारायण के लिए वैदिक साहित्य में यह भी कहा गया मिलता है कि वे पाँच रात्र सत्र करके सर्वश्रेष्ठ बन गए।[4] तथा, इन्हें भी क्रमशः उन्हीं उपाधियों के मिलते जाने

१ 'ऋग्वेद' (१।२२।१८), (१।२२।१७) तथा (१।१५५।५)।

२ वही (१।२२।२०) तथा (१।१५४।५)।

३ वही (१।२२।१९), (६।६९) तथा (७ ९९) (see also Goswami's (B. K.) the Bhakti cult in ancient India, Culcutta 1922) pp. 101—2.

४ परशुराम चतुर्वेदी; 'वैष्णव धर्म' (विवेक प्रकाशन, इलाहाबाद, १९५३) पृ० सं. १५ तथा 'शतपथ ब्राह्मण' (१२।३।४)।

से, इन्हें पीछे उक्त विष्णु से अभिन्न भी समझा जाने लगा।[१] वैष्णवों के अन्य उपास्य नामों में से 'वासुदेव' अथवा 'कृष्ण' के उतने उल्लेखों का पता वैदिक संहिताओं में नहीं चलता। ये दोनों पहले, 'विष्णु' एवं 'नारायण' की भांति, पृथक्-पृथक् प्रयुक्त होते दीख पड़ते हैं और फिर दोनों पीछे एक दूसरे के पर्याय भी बन जाते हैं।[२] वास्तव में इन शब्दों के अधिक प्रयोग, पहले पहल, 'महाभारत' में ही होते हैं और वहाँ पर यह भी पता चलता है कि वासुदेव किसी वासुदेव के ही पुत्र तथा वृष्णि कुल के सदस्य भी थे।[3] इसी प्रकार 'विष्णु पुराण' में आए हुए यदुकुल तथा क्रोष्टुकुल के वर्णनों से यह भी पता चल जाता है कि ये वार्ष्णेय' 'सात्वत' भी कहे जा सकते थे[४] तथा इस बात के समर्थन में डा० भांडारकर ने कई अन्य प्रमाण देने की चेष्टा की है।[५]

'कृष्ण' शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' के एक सूक्त के रचयिता के लिए किया गया मिलता है[६] और 'छान्दोग्य उपनिषद्' के आधार पर यह भी पता चलता है कि कोई देवकी-पुत्र कृष्ण भी थे जो घोर आंगिरस के शिष्य थे।[७] 'कृष्ण' शब्द फिर कुछ दिनों तक गोत्र विशेष को भी सूचित करता रहा, किन्तु, पतंजलि के महाभाष्य की रचना के समय तक, यह 'वासुदेव'

---

१ 'तैत्तिरीय आरण्यक' (१२।११।१)।

२ Dr. Raichandhari (H. C.) Early History of the Vaishnava sect (Culcutta. 1920), p. 22.

३ 'महाभारत' (५।७०।३०), (१२।३४१।४१), (३।१४।८) तथा श्रीमद्भगवद्गीता (१०।३७)।

४ 'विष्णु पुराण' (४।११) तथा (४८।१२)

५ Dr. Bhandarkar (R. G.) Vaishnavism, Shaivism and minor religions systems (Poona 1926) p. 12.

६ 'ऋग्वेद' (८।८५।३)।

७ 'छान्दोग्य उपनिषद्' (३।१७।६)।

द्वारा अभिहित किए जाने वाले व्यक्ति का भी नाम बन गया।[1] इस वासुदेव कृष्ण द्वारा ही, 'श्रीमद्भगवद्गीता' में आए हुए, उपदेश दिए गए थे जिसमें उस समय तक प्रचलित साधनाओं का समन्वय किया गया था। वासुदेव श्रीकृष्ण द्वारा उपदिष्ट यह धर्म 'एकांतिक धर्म' के नाम से भी प्रसिद्ध है और यही 'सात्वत धर्म' अथवा 'भागवत धर्म' भी कहलाता है। इसी का एक अन्य विकसित रूप 'पाँच रात्र' धर्म के नाम से भी अभिहित किया गया और इन सभी को मिला कर, अन्त में वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई और, कुछ विद्वानों के अनुसार, इसमें बहुत सी बातें उन आभीरों की भी सम्मिलित कर ली गई जो कहीं पश्चिम् से आ कर मथुरा से लेकर सौराष्ट्र एवं काठियावाड़ तक, बस गए थे, जिन की जीविका गोचारण की थी तथा जिनका आराध्य देव कोई बालक था।[2] इसके अनुसार श्री कृष्ण को फिर गोपाल कृष्ण भी कहा जाने लगा और उनके विषय में विभिन्न लीलाएँ प्रचलित की गईं। फिर भी विष्णु को स्वयं 'ऋग्वेद' में 'गोपा' कहा गया मिलता है।[3] उनके परमपद में उत्तम गायों का रहना बतलाया जाता है[4] और 'बोधायन सूत्र' के अन्तर्गत वे 'गोविन्द' और 'दामोदर' भी कहे गए हैं[5] जिससे उस प्रकार के अनुमान को असंदिग्ध रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

अतएव, वैष्णवधर्म, डा० भांडारकर के अनुसार, चार धार्मिक विचार-धाराओं के आधार पर संघटित हुआ जिनमें से प्रथम के मूल स्रोत वैदिक देवता विष्णु थे, दूसरी के दार्शनिक देवता नारायण थे, तीसरी के ऐतिहासिक

---

१ Early History of Vaishnava sect, by Dr. Ramchandhury

२ 'वैष्णव धर्म' (परशुराम चतुर्वेदी) पृ० ४३।

३ 'ऋग्वेद' (१।२२।१८)।

४ वही (१।१५४।६)

५ 'बोधायन सूत्र' (२।५।२४)।

देवता वासुदेव थे और चौथी के आभीर देवता बालगोपाल थे और इन चारों की परम्पराओं ने मिल कर इसके निर्माण में सहयोग प्रदान किया[१]। इस संघटन का प्रभाव उस भक्तियोग व भक्तिभावना पर भी पड़ा जो पहले से ही क्रमशः विकसित होती आ रही थी। वैदिकयुग में वह, सर्वप्रथम केवल श्रद्धा के रूप में थी, किन्तु पीछे उपासना की विविध क्रियाओं द्वारा क्रमशः निखरती हुई, स्मार्त धर्म के आरंभ व प्रचारकाल तक, भक्ति के स्पष्टतर भाव को अपनाने लग गई और उसके उपास्य देव भी, वैदिक काल के काल्पनिक रूपों से विकसित होते हुए, क्रमशः एक देव तथा फिर वासुदेव कृष्ण के एक असाधारण समन्वयात्मक रूप में परिणत हो गए। इस प्रकार के विकास में विशेष दृढ़ता लाते समय बौद्ध एवं जैन धर्मों की निरीश्वरात्मक विचारधाराओं ने भी अपनी विरोध की प्रवृत्तियों के द्वारा प्रोत्साहन दिया[२]। फिर तो वैष्णवधर्म के क्षेत्र में अंकुरित एवं पल्लवित होने वाली भक्तिसाधना अन्य धर्मों तक में भी लोक प्रिय बनती चली गई और गुप्त सम्राटों के शासन काल तक इसमें इतनी शक्ति आ गई कि यह विदेशों तक में भी जा कर फलफूल सके। उस समय तक यह न केवल उत्तरी भारत में ही प्रचलित थी, अपितु इसका प्रवेश क्रमशः तमिल प्रान्त तक भी हो चुका था जहाँ के अनुकूल वातावरण ने इसे वैष्णव एवं शैव धर्म दोनों के ही सांप्रदायिक रूपों में विस्तार पाने का अवसर दिया और यह सदा के लिए दृढ़ मूल बन गई। दक्षिण में इसे पहले नायनमार शैव भक्तों तथा आड्वार वैष्णवों की व्यक्तिगत चेष्टाओं का ही अधिक सहारा मिला, किन्तु पीछे जब वैष्णवधर्म के आचार्यों ने भी इसे, सर्वप्रथम दार्शनिक आधार पर प्रतिष्ठित करने के प्रयत्न किए, इसके आन्दोलनों का भी आरम्भ हो गया और धीरे-धीरे, कुछ न कुछ

---

१ Dr. Bhandarkar (R. G.) "Vaishnavism, Shavism and minor religions systems".

२ 'वैष्णव धर्म' पृ० ४५

मतभेदों के भी उत्पन्न होते होते, स्वयं इसके ही अन्तर्गत विभिन्न शाखाओं की सृष्टि हो गई।

वास्तव में वैष्णवधर्म के विकास की चर्चा करना उसकी भक्ति-साधना के ही इतिहास का परिचय देना हो जाता है। उसकी सबसे प्रमुख विशेषता यही है और इसी के आधार पर उसमें एक बहुत विस्तृत साहित्य की भी रचना हो गई है। वैष्णवधर्म ने इसके लिए, न केवल विविध वैदिक देवताओं के आधार पर तथा उनके द्वारा उत्पन्न हुई भावनाओं का आश्रय भी लेकर, अपने इष्टदेव को क्रमशः समन्वयात्मक रूप देते जाने की चेष्टा की है और इस प्रकार उसे बहुत कुछ सार्वभौम-सा बना दिया है, प्रत्युत उसने राम एवं कृष्ण जैसे महान् आदर्श पुरुषों को भी अपनाकर उनके सर्वथा मानवीय चरित्रों की सहायता से, इसे व्यावहारिक रूप भी दे दिया है। वैष्णवधर्म का अवतारवाद परमात्मतत्त्व को हमारे लिए सुलभ कर देता है तथा सारी सृष्टि को एक सर्वप्रमुख जगन्नियंता की रक्षा एवं शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत ला देता है और सर्वसाधारण के हृदय में एक सांत्वना एवं संतोष का भाव भर देता है। इस धर्म को वैदिक उपासना पद्धति से कोई प्रत्यक्ष विरोध नहीं और न यह आगमों के ही पूजन विधानादि को कभी त्याज्य समझता है। एक ओर जहाँ इसने वैदिक धर्म को अपना मूल स्रोत बतलाया है वहाँ दूसरी ओर इसने तांत्रिक उपसना को भी अपनाया है। पहले के यज्ञयागादि-सम्बन्धी अनुष्ठानों की ओर अधिक ध्यान न दे कर जहाँ इसने अपने लिए सर्वाधिक बल भक्तिभाव की ओर दिया है वहाँ इसने दूसरे की विविध गुह्य साधनाओं को भी अनावश्यक मान लिया है तथा उसकी केवल पूजन अर्चन पद्धति को ही ग्रहण किया है। इसकी एक महत्वपूर्ण विशेषता इस बात में भी देखी जा सकती है कि इसने अपने प्रचार के लिए कला एवं साहित्य को भी प्रमुख साधन बनाया है और उनके आधार पर यह उच्च स्तर के लोगों से लेकर निम्नवर्गीय जनता तक बड़ी सरलतापूर्वक पहुँच गया है। इसके लिए महान् पंडितों ने गम्भीर भाष्यों की रचना की है, उच्च कोटि के कवियों ने अनेक भाषाओं का काव्य-भांडार भरा

है, विभिन्न योग्य कलाकारों ने भव्य मंदिरों, सुन्दर मूर्तियों और मनमोहक चित्रों का निर्माण किया है तथा इसके आदर्शों द्वारा अनुप्राणित होकर अनेक सत्यनिष्ठ एवं चरित्रवान् व्यक्तियों ने सारे समाज को सजग और समुन्नत करने के प्रयत्न किये हैं।

जैसा इसके पहले ही कहा जा चुका है सन्त साहित्य के रचयिताओं का प्रत्यक्ष सम्बन्ध हिन्दू धर्म एवं वैष्णव संप्रदाय से है। अतएव, इस बात को भी स्वीकार कर लेने में कदाचित् कोई आपत्ति नहीं की जा सकती कि सन्त लोग अपनी कई विशेषताओं के लिए भी इनके आभारी हैं और इस प्रकार के अनुमान को वैष्णव धर्म के विकास का इतिहास बहुत कुछ पुष्ट कर देता है। वैष्णव धर्म में सदा से ही समन्वय की प्रवृत्ति रही है और इस के द्वारा उसने अपने इष्टदेव के प्रति भावना से लेकर अपनी भक्ति साधना तक को समय समय पर सुधारने और अधिकाधिक सुव्यवस्थित रूप देने का कार्य किया है। अपनी भक्ति साधना के रूप में उसने एक ऐसे सर्वजन सुलभ मार्ग को हमारे सामने रखा है जिसके नाते सब किसी को भी एक पंक्ति में बैठने का अवसर मिल सकता है तथा, जिसके यदि विशुद्ध आदर्श रूप पर विचार किया जाए तो, उसके आधार पर एक साम्यवाद की भी प्रतिष्ठा की जा सकती है। इस भक्ति साधना के ही व्याज से उसने उस परम-तत्त्व व परमात्मातत्त्व को एक व्यक्तित्व प्रदान कर दिया है जिसकी असीम दया और वात्सल्य में विश्वास करने वालों को न केवल धैर्य और प्रोत्साहन प्रत्युत आत्म प्रत्यय तक उपलब्ध हो सकता है। इस धर्म की भक्ति भावना में एक ही साथ जहाँ अपने इष्ट देव के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का भाव था और उसकी स्तुति प्रर्थना थी वहाँ, उसके प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण कर आत्मिक बल ग्रहण करने का रहस्य भी निहित था जिसके द्वारा मानव हृदय का पूर्ण परिष्कार संभव था, विश्व को एक पारिवारिक रूप देने की प्रवृत्ति संभव थी और अपने उस उच्च आदर्श का व्यवहार में प्रतिफलित होना भी संभव था जिसे भक्त ने उस इष्टदेव के रूप में मूर्तिमान कर दिया था और जिसे वह रामकृष्णादि अवतारों के दृष्टान्तों से प्रमाणित भी कर सकता था। सन्तों ने

इन सभी बातों से प्रेरणा प्राप्त की, किन्तु इन्हें अपने मूल सिद्धान्तों के आलोक में उन्होंने यथा साध्य परिमार्जित भी कर लिया।

संतों द्वारा इस प्रकार का दृष्टिकोण अपनाये जाने में कतिपय बाहरी-कारण भी सहायक हो गए। वैष्णव धर्म का उदय सर्वप्रथम उत्तरी भारत में ही हुआ था, किन्तु वह समय पा कर दक्षिण की ओर भी फैल गया जहाँ उसे किंचित् भिन्न सामाजिक वातावरण और परम्परा का प्रश्रय मिला तथा जहाँ से वह कुछ नई सजधज के साथ फिर उत्तर की ओर लौटा। दक्षिण भारत के निवासियों के ही यहाँ उसने अपनी उस भक्ति साधना के लिए भावगांभीर्य का उपार्जन किया जिसे, अपनी विशेषता के रूप में, अपना कर वह उधर अग्रसर हुआ था और वहीं, कदाचित् सर्वप्रथम, उसने उस विचार धारा को भी ग्रहण किया जिसके अनुसार उसमें सामाजिक साम्य का भाव जगा तथा उसके भीतर यह प्रवृत्ति भी जगी कि अपने मत को सर्वत्र प्रसारित करना भी अपना कर्तव्य है। तदनुसार बहुत से वैष्णव धर्म के आचार्य जिनका मूल सम्बन्ध दक्षिण के ही किसी न किसी प्रान्त से था भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के संगठन में लग गए और, लगभग, पाँच सौ वर्षों के समय में, इस धर्म का प्रचार भारत के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक हो गया। जिस प्रान्त में इसके प्रचारक पहुँचे वहाँ की जनता को उन्होंने अपने सन्देश के लिए न्यूनाधिक अनुकूल पाया और, यदि कहीं किसी प्रकार के वैषम्य की आशंका हुई वहाँ उन्होंने यह भी प्रयत्न किया कि उसे, यथासम्भव, नवीन वातावरण से समायुक्त कर दिया जाय।

दक्षिण भारत में इस धर्म का पता वहाँ के प्राचीनतम साहित्य तक में पाया जाता है। 'परिपाडल' नामक तमिल ग्रन्थ (जिसमें 'संगम' वाली कविताएँ संगृहीत हैं) विष्णु की चतुर्व्यूह की ओर स्पष्ट संकेत करता है और कृष्ण एवं बलदेव की पूजा भी, तमिल संस्कृति का एक विशिष्ट अंग बन कर, उसके इतिहास के प्राचीन युग से ही दीख पड़ने लगती है। किन्तु, उसके साथ ही, यह भी परम्परानुसार प्रायः निश्चित-सा है कि तमिल भाषा का आरम्भ ही शिव के द्वारा किया गया था और पीछे इसके व्याकरण को

किसी अगस्त्य ने सुव्यवस्थित किया।[1] इस प्रकार शैव एवं वैष्णव इन दोनों धर्मों को हम वहाँ, प्रायः समानान्तर, अग्रसर होते हुए देखते हैं। शैव 'नामनमर' तथा वैष्णव 'आडवार' भक्त वहाँ लगभग समसामयिक रहकर अपनी अपनी भक्ति साधना का अभ्यास करते हैं तथा दूसरों को उपदेश देते हैं। यह परम्परा पल्लव राजाओं के समय से लेकर ईसा की आठवीं नवीं शताब्दी तक किसी न किसी रूप में प्रचलित चली आती है। नामनमरों में से सम्बन्दर, अधर, सुन्दर एवं मणिक्कवासगर सर्वप्रमुख हैं और इसी प्रकार आडवारों में से भी गोदा, नम्मलवर आदि के नाम लिए जा सकते हैं ये सभी लोग अपने अपने इष्टदेवों के प्रति चाहे वह शिव हो अथवा विष्णु का ही कोई रूप हो शुद्ध भक्ति का प्रदर्शन करते हैं। ये उनके प्रति सर्वस्व त्याग का भाव रखते हैं, उन्हें कभी विस्मृत करना नहीं चाहते और निरन्तर उन्हीं की धुन में लगे भी रहते हैं। बाह्य पूजन अर्चन की ओर ये विशेष ध्यान नहीं देते, प्रत्युत उनका ध्यान करते हैं और उनका स्तुतिगान भी किया करते हैं। इन भक्तों में से अधिक संख्या उन लोगों की दीख पड़ती है जो वर्ण व्यवस्था के विचार से निम्न श्रेणी में ही गिने जायेंगे और, जहाँ तक पता चलता है, उनका दैनिक जीवन भी अत्यन्त साधारण कोटि का ही कहा जा सकता है। परन्तु उनकी रचना द्वारा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनके न केवल आध्यात्मिक विचारों में ही उच्चता और गम्भीरता है, अपितु उनके नैतिक आचरण में विशुद्धता है तथा उनके सामाजिक व्यवहारादि में भी पूर्ण औदार्य एवं सहानुभूति के गुण पाये जाते हैं। इनकी सब से बड़ी विशेषता इस बात में लक्षित होती है कि ये सर्वसाधारण के अंग जान पड़ते हैं, और ये सभी किसी को मुक्ति का अधिकारी भी समझते हैं।

वैष्णव धर्म को, तमिल देश में, अपने मत के मौलिक रूप में प्रचार करते

---

१ Krishna Swami Aiyangar : "Some contributions of south India to Indian Culture (University of Culcutta, 1942), pp. 117 and 120.

समय, शैव धर्म के द्वारा पूरा सहयोग मिलता है। अपने विकास के प्रारंभिक दिनों में ये दोनों धर्म विशेषतः फुटकर भक्तों द्वारा ही अपनाये जाते हैं और इनमें उस सांप्रदायिकता का भाव नहीं जागृत हुआ रहता जो अधिकतर उनके संगठित आन्दोलनों की ही उपज सिद्ध हुई। इसी कारण ये दोनों एक दूसरे की कई बातों को प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप में अपनाते समय भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते। तदनुसार शैव भक्त जहाँ वैष्णवों से उन वृत्तियों को ग्रहण करते हैं जो इनके भीतर अपने इष्टदेव के समय-समय पर अवतार ग्रहण करते करते तथा बहुत से मानवीय सद्गुणों को अपनाते जाने के कारण, जागृत हो गई रहती हैं वहाँ वैष्णव भक्त भी, शैवों के प्रभाव में उस विचारधारा को आत्मसात् करने लग जाते हैं जो विशेष कर शिव के दार्शनिक रूप से सम्बन्ध रखती है और जो वस्तुतः ज्ञान मूलक भी कही जा सकती है। शिव एवं विष्णु दोनों का सम्बन्ध वैदिक युग से जोड़ा जाता है और दोनों के उल्लेख 'ऋग्वेद' तक में दिखलाए जाते हैं। परन्तु इन दोनों इष्टदेवों का विकास वहाँ पर एक ही प्रकार से होता हुआ नहीं दीख पड़ता। विष्णु के क्रमिक विकास के विषय में इसके पहले चर्चा की जा चुकी है और बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार, उनके अन्तिम रूप धारण करने तक, अनेक समन्वय करने पड़े। शिव के विकास पर विचार करते समय हमें पता चलता है कि, 'ऋग्वेद' की रचना के समय, जहाँ वे 'रुद्र' के भीषण रूप में दीख पड़ते थे और मरुतों के साथ विचरण करते तथा पशुओं एवं मनुष्यों तक को मारा करते थे[1] वहाँ वे क्रमशः 'पशुम'[2] कहलाने लगते हैं और 'प्रथम दैव्य भिषक्'[3] से बढ़ते-बढ़ते शिव बन कर सबके लिए कल्याणकारी मूर्ति धारण कर लेते हैं।[4] फिर तो, अंत में, उन्हें 'महादेव'

---

१ 'ऋग्वेद' (१।११४।२) तथा (१।११४।७-८)।

२ वही (१।११४।६)।

३ 'यजुर्वेद' (१६।५)।

४ वही (१६।४१)।

तथा 'ईशान' तक की पदवी दी जाने लगती है[1] और 'श्वेताश्वतर' एवं 'अथर्वशिरस' उपनिषदों तक के समय तक उन्हें एक दार्शनिक रूप भी मिल जाता है। यही समय इस देवता के प्रति भक्तिप्रदर्शन आरंभ करने का भी है, किन्तु उसमें अधिक ध्यान योग परक साधना की ही ओर दिया गया प्रतीत होता है और 'श्वेताश्वतर' में तो "ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः"[2] को एक से अधिक बार दोहराया गया भी दीख पड़ता है।

'महाभारत' की रचना के समय तक शिव को एक ऐसे देवता के रूप में हम पाने लगते हैं जो उपदेश भी प्रदान करता है और जिसके विषय में वैष्णवों के पांचरात्र जैसे किसी 'पाशुपत शास्त्र' का भी उल्लेख मिलता है[3]। फिर कतिपय पुराणों द्वारा यह भी पता चलता है कि जिस प्रकार यादव कुल में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया उसी प्रकार शिव ने भी नकुलीश्वर ब्रह्मचारी ब्राह्मण रूप में अवतार धारण किया। इसे कामावतार अथवा कामावरोहण कहा गया है और कुशिक, गर्ग्य, मित्र एवं कौरुष्य नामक चार तपस्वियों को उनका शिष्य बतलाया गया है[4]। नकुलीश के नाम के साथ पाशुपत संप्रदाय की चर्चा की जाती है और कापालिक व कालमुख संप्रदाय, काश्मीर शैव सम्प्रदाय, शैव सम्प्रदाय व लिंगायत और नाथ सम्प्रदाय जैसे बहुत-से ऐसे सम्प्रदायों की सृष्टि हो जाती है जो शैवधर्म के प्रचार में लग जाते हैं। ये सम्प्रदाय पहले बहुत दिनों तक वैष्णव सम्प्रदायों के साथ अधिक विरोध की भावना प्रदर्शित नहीं करते। परन्तु पीछे इनके कारण शैवधर्म एवं वैष्णव धर्म के अनुयायियों में परस्पर विद्वेष तक दीख पड़ने लगता है

---

१ 'अथर्ववेद' (१५।१।४) तथा (१५।१।५)।

२ 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' (प्रथम अध्याय, पद्य ८, द्वितीय अध्याय, पद्य १५, चतुर्थ अध्याय पद्य १६ इत्यादि)।

३ 'महाभारत' (शान्ति पर्व, अध्याय ३४६, श्लोक १४)।

४ दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री 'शैव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास' (मुंबई संवत् १९९२। पृष्ठ ४३।

और अनेक बार घोर संघर्ष का अवसर आ जाता है। फिर भी दोनों एक दूसरे की बहुत-सी बातों को अपनाते भी चलते हैं और कभी-कभी शिव एवं विष्णु को 'हरिहर' के रूप में एक भी कर देने की चेष्टा की जाती है जो कुछ दूर तक सफल भी जान पड़ती है। इस हरिहर अथवा शंकर-नारायण की 'हरिवंशपुराण' में स्तुति की गई है और विशेषकर दक्षिण भारत एवं कम्बोज में उनके अनुयायियों की संख्या कम नहीं बतलाई जाती। दक्षिण भारत के कतिपय स्थानों का ग्रामीण समाज इन्हें 'अपनार' के नाम से भी पुकारता है और ये वहाँ एक ऐसे ग्राम देवता के रूप में पूजे जाते हैं जिसकी उत्पत्ति शिव पिता एवं, उनकी पत्नी का रूप धारण करने वाले, विष्णु माता के संयोग से हुई है[१]। शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म को एक दूसरे के निकट लाने में स्मार्त धर्म ने भी कुछ सहायता दी है जिसके अनुयायी पंचदेव की पूजा किया करते हैं।

शैव धर्म ने वैष्णव धर्म को कब, कहां और किस दूरी तक प्रभावित किया इसका ठीक-ठीक पता देना सरल नहीं है। परन्तु फिर भी इसमें संदेह नहीं कि, दोनों धर्मों के अनेक स्थानों पर एक ही साथ प्रचार होते रहने के कारण, एक ने दूसरे को अवश्य प्रभावित किया। इस विषय में कुछ संकेत पहले भी किया जा चुका है और कहा गया है कि इन दोनों धर्मों की कौन-कौन सी मौलिक विशेषताएँ बतलायी जा सकती है। शैव धर्म, वैष्णव धर्म की ही भांति, वैदिक परम्पराओं द्वारा पूर्णतः प्रभावित होने का दम भरता दीख पड़ता है, किन्तु आधुनिक अनुसंधानों द्वारा यह बात अधिकाधिक मात्रा में प्रमाणित होती जा रही है कि वह कदाचित् कभी वैदिक युग के पहले भी, प्रचलित था। मोहेनजोदड़ो तथा हरप्पा की खोदाई से जो बहुत-सी बातों का पता चला है उनमें एक यह भी कही जाती है कि मोहेनजोदड़ो के किसी राजा ने यहाँ पहले-पहल 'लिङ्ग' की उपासना आरम्भ करायी थी जो उसके पूर्व से ही

---

१ Charles Eliot : 'Hinduism and Buddhism (London, 1954) Vol. II p. 164.

सुदूर पूर्व के द्वीपों में प्रचलित थी[१]। इस कारण इस धर्म के अन्तर्गत अनेक ऐसी बातों का भी समावेश हो गया है जो वस्तुतः वैदिक धर्म पर आश्रित नहीं कही जा सकती। इसके सिवाय इसकी साधनाओं में जो महत्व योग को दिया जाता है उतना अन्य किसी धर्म में नहीं पाया जाता और शिव की पत्नी उमा व पार्वती के प्रतिनिधिस्वरूप आदि शक्तिरूप की उपासना का जो तांत्रिक विधान है वह भी अत्यन्त प्राचीन समझा जाता है। स्वा० शंकराचार्य की रचना समझी जाने वाली 'सौंदर्य लहरी' में तो यहाँ तक बतलाया गया है कि, "यदि शक्ति का सहयोग न मिले तो, शिव तक कुछ भी नहीं कर सकते और उनका स्पन्दन तक नहीं हो सकता[२]।" शाक्त धर्म भी स्वयं, कदाचित् शैव धर्म-सा ही प्राचीन है।

वैष्णव धर्म पर शैव धर्म का प्रभाव न केवल इसकी योग-साधना तथा ज्ञान कांड के ही स्रोतों से आ कर पड़ता है, अपितु उसमें इसके सहयोगी व पूरक शाक्त धर्म की भी बहुत सी बातें आ गई हैं अथवा उसने इसका कई बातों में अनुकरण किया है। "प्राचीन पाँच रात्र संहिता" से ले कर आधुनिक वैष्णव धर्म सम्बन्धी साहित्य तक में इस बात का एक रोचक चित्रण पाया जाता है कि किस प्रकार परमेश्वर अपनी शक्ति के साथ सदा स्थायी रूप से रह सकता है चाहे उस शक्ति को हम लक्ष्मी कहें या राधा कहें[२]" 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' का तो आरंभ ही उस शक्ति की वन्दना से होता है जो हरि की है तथा 'पञ्च कृत्यकारी' भी है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय 'पञ्चकृत्य' शब्द संभवतः शैव तन्त्रों का है जहाँ शिव को उनके 'सर्ग, स्थिति,

---

१ Dr. A. P. Karmarkar : 'The Vratya or Dravidian system' (The religions of India Series, Lonavla, 1950) p. 217.

२ शिवः शक्त्यामुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं।
न चे देवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि॥
'सौंदर्य लहरी' श्लो. १।

संहार, तिरोभाव, अनुग्रह' के अनुसार 'पञ्चकृत्यकारी' कहा गया है। इस संहिता में शक्ति एवं शक्तिमत् की अभेदता का निरूपण करते हुए यह भी बतलाया गया है कि "बिना शक्ति के शक्तिमान् (परमेश्वर) कारण नहीं बन सकता और न बिना शक्तिमत् के शक्ति ही कभी अकेली रह सकती है[२]।" जो कथन ठीक 'सौन्दर्य लहरी' वाली उक्ति से भी मिलता। पीछे के वैष्णव साहित्य में तो बिना लक्ष्मी, राधा अथवा सीता के काम ही नहीं चलता जान पड़ता। वैष्णव धर्म के अवतारवाद ने इस भावना के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता की है, किन्तु बहुत-से विद्वानों का ऐसा अनुमान है कि यह मूलतः शैव धर्म की ही देन है। सन्त साहित्य के अन्तर्गत जहाँ, कुण्डलिनी को उद्बुद्ध कर उसे, सुषुम्ना द्वारा ऊपर ले जाने का योगसाधनात्मक वर्णन आता है वहाँ उस शक्ति के अपने उच्चतम स्थान तक पहुँच जाने का नाम प्रायः शक्ति एवं शिव का मिलन ही दिया गया पाया जाता है। शक्ति के अन्तर्मुख होकर शिव के साथ अद्वय रूप धारण कर लेने को काश्मीरी शैव दर्शन में 'अन्तर्लीन विमर्श' कहा गया है और वही सामरस्य की दशा भी है जिसकी चर्चा बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में एकदूसरे ढंग से की गई मिलती है।

वैष्णव धर्म एवं शैव धर्म का प्रचार जिस समय दक्षिण भारत में होने लगा था उस समय तक वहाँ बौद्ध धर्म एवं जैन धर्म भी पहुँच चुके थे और इन दोनों श्रमण धर्मों के अनुयायियों की भी संख्या वहाँ पर कम न थी। दक्षिण भारत अभी आज तक भी हिन्दू धर्म के प्रचीनतावादी अनुयायियों का प्रमुख निवास क्षेत्र माना जाता आया है और हिन्दू संस्कृति की रक्षा के लिए

---

१ Dr. Prabhat Chandra Chakravarti : 'Doctorine of Sakti in Literature (Culcutta 1940) p. 97.

२ नैवशक्त्या विना कश्चिच्छक्तिमानस्तिकरणम्।
न च शक्तिमता शक्ति र्निनैकाप्यवतिष्ठते ॥

अहिर्बुध्न्य संहिता (६।३)।

सबसे अधिक प्रयत्नशील होने वालों में वस्तुतः दक्षिण वालों के ही नाम विशेष रूप में लिए जा सकते हैं। तमिल साहित्य के पुराने ग्रंथों के आधार पर अनुमान किया गया है कि सम्राट् अशोक के शासन काल तक सुदूर दक्षिण भारत में बौद्ध धर्म का प्रवेश नहीं हो पाया था और वह अधिक-से-अधिक दंडकारण्य तक ही पहुँच पाया था[१]। परन्तु गुप्त सम्राटों के समय तक वहाँ पर बौद्ध एवं जैन दोनों ही धर्मों का पूरा प्रचार होने लग गया था और उनका प्रभाव भी पड़ता जाता था। तमिल काव्य 'शिलप्पदिकारम्' तथा 'मणिमेकलै' के कथानकों से भी प्रकट होता है कि उनकी रचना के समय अर्थात् प्रथम ईस्वी शताब्दी तक भी इनका प्रभाव पड़ चुका था। फिर केरल प्रांत में पीछे 'बौद्ध' शब्द का अभिप्राय किसी भी अहिन्दू धर्मावलम्बी के लिए ठीक समझा जाने लगा[२]। इसी प्रकार यदि हम केरल प्रान्त में प्रचलित 'शास्ता' की उपासना पर भी विचार करते हैं तो पता चलता है कि बौद्ध धर्म का प्रचार कहाँ तक सफल हो गया था। शास्ता उस प्रान्त के सर्वप्रिय देवों में से एक है और उसके लिए प्रसिद्ध है कि वह उपर्युक्त 'हरिहर' नामक देवता का पुत्र था। समुद्र मंथन के समय जब विष्णु ने मोहिनी का रूप धारण किया था तो शिव ने आसक्त होकर उसके साथ भोग किया था और तभी शास्ता का जन्म हुआ था। 'केरलोपथी' के अनुसार परशुराम ने केरल प्रान्त का निर्माण कर उसके पूर्वी जंगलों में शास्ता के लिए मंदिर बनवा दिए थे और यह समझा जाता है कि यह उधर से आक्रमण करने वालों के विरुद्ध जनरक्षक का काम करता था। शास्ता के मंदिरों तक तीर्थ यात्रा करने वालों की एक विशेषता है कि वे सभी एक साथ बैठ कर भोजन कर लेते हैं और ब्राह्मण, क्षत्रिय तक नीची जातियों से घृणा नहीं करते[3]।

---

१ 'Some Contributions of South India to Indian Culture' p. 35.

२ Dr. P. C. Alexander : 'Buddhism in Kerala' (Annamalainager, 1949) p. 43.

३ Do. p. 110 and 112.

इस सम्बन्ध में हमें 'शास्ता' शब्द पर भी विचार कर लेना चाहिए और देखना चाहिए कि उसका इस प्रश्न पर कहाँ तक प्रकाश पड़ता है तथा कहाँ तक इस एक शब्द द्वारा भी सूचित होता है कि वैष्णव, शैव एवं बौद्ध धर्म यहाँ पर एक में ही सम्मिलित हो जाते हैं। 'शास्ता' शब्द शास् धातु से बना है जिसका अर्थ नियमन करना एवं रक्षा करना होता है और यह 'शासक' का पर्याय कहला सकता है। ऐसी दशा में यह उस देवता के लिए भी सर्वथा उपयुक्त हो सकता है जिसे परशुराम ने जंगलों में मंदिर निर्माण करा कर रक्षार्थ स्थापित किया था और जो, इसी कारण, केरल प्रान्त के लिए दिग्पालों जैसा महत्वपूर्ण था। किन्तु 'अमरकोश' के देखने से पता चलता है कि 'शास्ता' शब्द स्वयं बुद्ध का भी एक नाम है जो अन्य नामों के भी साथ वहाँ उसका एक पर्याय बन कर आया है[1]। डा० अलेग्जांडर नामक एक लेखक ने अपनी पुस्तक 'केरल में बौद्ध धर्म' के अन्तर्गत यह भी लिखा है कि शास्ता के मंदिरों तक जाने वाले यात्री 'शरणं अय्यप्पा' की धुन लगाते है, यात्रा के समय अहिंसा का व्रत लेते हैं और इस देवता की मूर्ति भी वैसे ही आसन में मिलती है जिसमें बुद्ध की प्रतिमाएँ पायी जाती हैं तथा इस देवता को वन में स्थान भी दिया गया है। ये सभी बातें इस अनुमान की पुष्टि करती हैं कि शास्ता बौद्ध धर्म के प्रवर्त्तक बुद्ध का प्रतिनिधित्व करता है जिन्होंने सामाजिक उदारता का भी उपदेश दिया था[2]।

---

१ "सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो धर्मराजस्तथागतः।
समन्त भद्रो भगवान्मारजिल्लोक जिज्जिनः ॥ १३ ॥
षडभिज्ञो दशबलोऽद्वयवादी विनायकः।
मुनीन्द्रः श्रीधनः शास्ता मुनिः शाक्य मुनिस्तु चः ॥ १४ ॥
स शाक्यसिंहः सर्वार्थसिद्धः शौद्धोदनिश्च सः।
गौतमश्चार्क बन्धुश्च मायादेवी सुतश्च सः" ॥ १५ ॥

—अमरकोश; (प्रथमकाण्डम्)

२ 'Buddhism in Kerala' p. p. 115-8

परन्तु फिर भी इस लेखक की धारणा है कि शास्ता को एक स्थानीय द्रविड़ देवता कहना ही अधिक युक्ति-संगत होगा। जिसके लिए भी कदाचित् इससे बढ़ कर कोई दूसरा प्रमाण नहीं कि इस देवता को प्रायः 'अपनार' भी कहा जाता है जिसका एक अन्य पर्याय 'हरिहर पुत्रम्' है[१]।

शास्ता देवता के विषय में विचार करना इसलिए आवश्यक हो जाता है कि इसके द्वारा केरल प्रान्त की अथवा पूरे दक्षिण भारत तक की धार्मिक स्थिति पर प्रकाश पड़ता है तथा इससे यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि वैष्णव धर्म के रूप में कैसे परिवर्तन होने लगे थे। केरल प्रान्त के इधर कर्नाटक में बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव कभी नहीं रहा और सातवीं ईस्वी शताब्दी तक भी बौद्धों की संख्या वहाँ दस सहस्र से अधिक नहीं थी[२] और ग्यारहवीं शताब्दी तक वहाँ यह केवल नाम मात्र की ही रह गई। जैन धर्म वहाँ सर्वप्रथम प्रसिद्ध श्रुतकेवलिन् भद्रवाड के साथ आया था जिनके समय में दिगम्बर संप्रदाय वाले श्वेताम्बर वालों से पृथक् हुए और इसका वहाँ अधिक प्रभाव रहा, किन्तु शैव धर्म का प्रचार बढ़ जाने के कारण अन्त में इस धर्म का भी बल बहुत कुछ घट गया और यह विशेष उन्नति न कर सका। शैव धर्म कर्नाटक के लिए कदाचित् सब से प्राचीन धर्म था और बारहवीं शताब्दी के पहले तक यहाँ पर कालामुख, पाशुपत जैसे इसके संप्रदायों ने प्रचार किया था। किन्तु बारहवीं शताब्दी से वहाँ वीरशैव व लिंगायत संप्रदाय का प्रचार आरंभ हो गया तथा फिर, तेरहवीं शताब्दी से ही वैष्णव धर्म के अनुयायी दासकूटों के भी अपना मत प्रचार करने लगने के कारण, वहाँ की धार्मिक स्थिति का रूप ही पलट गया। इन दो संप्रदायों की विशेषता यह रही कि, दो भिन्न-भिन्न धर्मों से पृथक् पृथक् सम्बन्ध रखते हुए भी, इन्होंने अपनी बहुत सी बातों में समानता रखी। वीरशैवों तथा

---

१ Do, p. p. 117-22.

२ Dr. A. S. Altekar cited in "Cultural History of Karnatak" by Dr. A. P. Karmarkar p. 175.

दासकूटों, दोनों ने ही, अपने-अपने धर्मों के उस पक्ष पर ही विशेष बल दिया जो आध्यात्मिक जीवन से सम्बन्ध रखता है, इन्होंने वैदिक, औपनिषदिक, बौद्ध एवं आगमीय सभी के मूल स्रोतों की उत्कृष्ट बातों को अपने यहाँ स्थान दिया, उनका अन्धानुसरण नहीं किया, भक्तिभाव के साथ नैतिकता को भी पूर्ण प्रश्रय दिया, सर्व साधारण में अपने मतों का प्रचार किया और, ईसीलिए, वहाँ की प्रान्तीय भाषा कन्नड़ को ही अपनाकर उसे अपने लिए प्रमुख माध्यम बनाया। इन दोनों के ही लिए वर्णाश्रमादि का सामाजिक भेद सर्वथा हेय था और दोनों ने अपने-अपने इष्टदेव को अपने-अपने ढंग से सर्वव्यापी तथा भक्तिमार्ग द्वारा उपलभ्य ठहराया। दार्शनिक दृष्टि से दोनों में मतभेद होने पर भी (क्योंकि दासकूट जहाँ द्वैतवादी थे वहाँ वीरशैव विशिष्टाद्वैती कहे जा सकते थे) दोनों इस बात में विश्वास करते थे कि अपवर्ग की उपलब्धि, इस जगत् में रहते हुए भी, सम्भव है।

वीरशैव सम्प्रदाय के प्रमुख प्रचारक वासव समझे जाते हैं और कहा जाता है कि उन्होंने इसके किसी प्राचीन रूप को पुनर्जागृत किया। वासव की प्रेरणा प्राप्त कर उनके बहुत से अनुयायियों ने कन्नड़ के वचन-साहित्य की रचना एवं प्रचार में योग दिया जिससे, अन्तःशुद्धि एवं नैतिक सदाचरण के आधार पर, सामाजिक सुधार का सूत्रपात किया गया। वे परमतत्व के केवल एक होने के प्रति आस्था रखते थे जिसे वे शिव का नाम देते थे, मूर्ति पूजा का बहिष्कार करते थे और इस बात में विश्वास करते थे कि भक्ति साधना के द्वारा हम अपने इष्टदेव को प्राप्त कर सकते हैं। वचन-साहित्य के रचयिताओं में ब्राह्मणों से लेकर अछूत लोग तक सम्मिलित थे और वे सभी शारीरिक श्रम को गौरव प्रदान करते थे।[१] उन्हें न तो किसी के साथ द्वेष भाव रखने की आवश्यकता थी और न वे निवृत्तिमार्गी बन कर घर-बार छोड़ने को ही महत्त्व देते थे। उनकी स्पष्टवादिता और स्वातन्त्र्य-प्रियता इस कोटि

---

१ Dr. S. C. Nandimath : "A Handbook of Virashavism" (Dharwar, 1942), p. p. 21-2.

तक पहुँची थी कि वे अपने समय के सहधर्मियों तक की कड़ी आलोचना करने से नहीं चूकते थे।[१] दासकूटों को हरिदास भी कहते हैं और उनके अस्तित्व का तेरहवीं शताब्दी से होना बतलाया जाता है। किन्तु पन्द्रहवीं शताब्दी के व्यासराय के नेतृत्व में दासकूटों ने सुव्यवस्थित रूप में कार्य करना आरम्भ किया। दासकूटों में सुधार की प्रवृत्ति उतनी स्पष्ट नहीं दीख पड़ती और ये इस बात में वीरशैवों से कुछ कम उत्साह रखते प्रतीत होते हैं। किन्तु फिर भी ये, भक्ति साधना के नाते, किसी भी प्रकार के जाति व वर्णविभेद को सहन नहीं कर सकते और न, सिवाय एकमात्र हरि के, किसी और को इष्टदेव ही स्वीकार करना चाहते हैं। इनका भी उद्देश्य लगभग ठीक वैसे ही आध्यात्मिक जीवन को उपलब्ध करना है और समाज के अन्तर्गत वैसे ही नैतिक व्यवहार के भी ये पक्षपाती हैं। ये भी उसी प्रकार व्यक्तिगत अनुभव को महत्व देते हैं और उसी प्रकार आशावादिता भी प्रदर्शित करते हैं। अतएव, संक्षेप में यह भी कहा जा सकता है कि जिस प्रकार तमिल प्रान्त के नायमरों अथवा शैव अड़ियरों तथा वैष्णव आड़वारों ने, भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी होने पर भी, लगभग एक ही प्रकार की भावना के साथ, समानान्तर काम किया था वैसे ही कर्नाटक के वीरशैवों तथा दासकूटों ने भी किया।

कर्नाटक प्रान्त के वीरशैवों व लिंगायतों तथा दासकूटों के बीच किसी गम्भीर संघर्ष का पता नहीं चलता, प्रत्युत दोनों ही सम्प्रदाय, एक दूसरे से न्यूनाधिक प्रभावित होते हुए भी, अपनी अपनी साधना में निरत जान पड़ते हैं। वीरशैव साधक जहाँ अद्वैतवादी दृष्टिकोण के साथ नैतिक शुद्धता का आदर्श लेकर चलते हैं वहाँ हरिदास भक्त, द्वैतवाद में विश्वास रखने के कारण, अपने इष्टदेव के प्रति दास्यभाव, सख्यभाव अथवा मधुरभाव तक

---

१ "The Vachan Shastra Sar" pp 107-10 115-66 and 118.

की भक्ति का प्रदर्शन करते हैं और भक्त के ही रूप में सदा बने रहना चाहते हैं। हरिदासों ने प्रमुख रूप में पंढरपुर के विठोबा को अपने इष्टदेव के रूप में विशेष महत्व दिया है जिसके विषय में कुछ विद्वानों की धारणा है कि वह किसी बौद्ध संत की प्रतिमा है तथा वह तीर्थस्थान भी मूलतः बौद्धों से सम्बन्ध रखता है।[1] परन्तु दूसरे लोगों ने अनुमान किया है कि 'पाण्डुरंग' शब्द (जो विट्ठल का ही एक पर्याय है) के हेमचन्द्र के ग्रन्थ 'देशी नाम माला' के अनुसार, शिव वाचक होने से, उक्त तीर्थ का सम्बन्ध पहले शैव धर्म से ही रहा होगा और पीछे वह वैष्णव धर्म के प्रभाव में भी आ गया होगा।[2] फिर भी डा० कर्मर्कर का कहना है कि "हेमचन्द्र के 'पंडुरंग' तथा इस 'पांडुरंग' शब्द में अन्तर है। कर्नाटक में 'रंग' शब्द सदा श्रीकृष्ण का वाचक माना जाता आया है और डा० किटल ने भी अपने 'कोश' में इसका यही अर्थ बतलाया है। इस कारण, पांडुरंग पांडवों के कृष्ण के अतिरिक्त और कौन हो सकता है ? और इस बात के लिए एक यह भी प्रमाण है कि संत ज्ञानेश्वर ने भी एक अभंग में विट्ठल को कर्नाटक का ही देवता स्वीकार किया है (दे० कानडा हो विट्ठलु कर्णाटकु) तथा विट्ठल की भक्ति कर्नाटक प्रान्त में ही आरंभ भी हुई होगी।"[3] डा० कर्मर्कर ने डा० रानडे के मत की ओर भी संकेत करके उसके विरुद्ध इस प्रस्ताव को रखा है।

परन्तु डा० कर्मर्कर ने डा० रानडे द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रमाणों पर कदाचित् पूर्ण रूप से विचार नहीं किया है। डा० रानडे, अपने इस मत के समर्थन में कि पंडुरंग व पांडुरंग शिव का नाम हो सकता है तथा विट्ठल

---

१ Dr. Nicol Macnicol : "Indian Theism" (Oxford University Press 1915) p. 127.

२ Dr. R. G. Bhandarkar : "Vaishnavism, Shaivism etc." p. 125.

३ Dr A. P. Karmarkar : "Mystic teachings of the Haridasas of Karnatak" (Dharwar, 1939), pp 24-5.

का सम्बन्ध शिव मूर्ति से भी हो सकता है, स्वयं ज्ञानेश्वर तथा उनके अग्रज निवृत्तिनाथ और फिर संत रामदास के भी प्रमाण उद्‌धृत करते हैं।[1] 'ज्ञानेश्वरी' के बारहवें अध्याय में, २१४ वें पद्य से लेकर २१८ वें पद्य तक, इस बात की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है कि श्रीकृष्ण शिव को अपने शिर पर स्थित बतलाते हैं जो इस बात से भी सिद्ध हो जाता है कि पंढरपुर की विठोबा वाली मूर्ति के शिर पर शिवलिंग रखा हुआ पाया जाता है। फिर निवृत्तिनाथ ने भी अपने एक अभंग में कहा है "ऐसा कौन है जो पुंडलीक के भाग्य का वर्णन करे जिसने विष्णु के साथ शिव को पंढरी में ला दिया और वह आज भी भीमाके तीर पर है।"[2] तथा रामदास ने भी कहा है "विठोबा ने अपने शिर पर महेश्वर को धारण किया है।"[3] इसके सिवाय ज्ञानेश्वर के लिए शैव धर्म तथा वैष्णव धर्म के मतों में कुछ भी भेद नहीं। वे तो किसी भी इष्टदेव के प्रति भक्ति प्रदर्शन को निंदित नहीं मानते, यदि वह सच्चे हृदय से तथा सम्यक् रूप में की जाती हो। उन्होंने 'ज्ञानेश्वरी' में भी बतलाया है कि "परमात्मा की भक्ति होनी चाहिए और उसका स्मरण करना चाहिए, चाहे वह नाम शैव धर्मानुकूल हो अथवा वैष्णव धर्म का हो।"[4]

महाराष्ट्र प्रान्त में, ज्ञानेश्वर के पहले से ही, चक्रधर स्वामी के महानुभाव संप्रदाय का प्रचार होता आ रहा था। चक्रधर स्वामी भी द्वैतवादी थे, किन्तु अपने पीछे आने वाले हरिदासों अथवा दासकूटों से कहीं

---

१ Dr. R. D. Ranade : "Mysticism in Maharashtra" (Poona, 1933) p. p. 40-2.

२ "पुंडलिकाचें भाग्य वर्णावया अमरीं। नाहीं चराचरी ऐसो कोणी।
विष्णु सहित शिव आणिला पंढरी। भीमातीरीं पेखणें जेणें॥"—वही

३ "विठोने शिरीं वाहिला देवराणा"—वही

४ "नातरी एकादें नांव। तेचि शैव कां वैष्णव।
वाचे वसे तें वाग्भव। तप जाणावे॥" (ज्ञानेश्वरी १७।२२३)

अधिक वे सुधारवादी भी थे। उन्हें वेदों के प्रति कुछ भी आस्था नहीं थी और उनका यह भी कहना था कि "वेदों को तो स्वयं परमात्म स्वरूप का ही कोई ज्ञान नहीं और वे केवल माया देवता की ही शक्ति का ज्ञान रखते हैं।"[1] उन्होंने 'विचिकित्सा रूप विकल्प' अर्थात यह अच्छा है, यह बुरा है, यह उच्च है, यह नीच है वाली विषमता की भावना को ईश्वर प्राप्ति के लिए विघातक ठहराया है और इसी आधार पर चातुर्वर्ण्य की भावना को भी स्वीकार नहीं किया है।[2] उनका तो यहाँ तक कहना है कि "अछूतों की भी बस्ती में जाकर हमें धर्म विषयक ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।"[3] कहते हैं कि एक मातंग के हाथ का पान और लड्डू खाने में भी उन्हें तनिक भी झिझक नहीं जान पड़ी और उन्होंने स्वयं खाकर अपने अनुयायियों में भी उसे बाँट दिया।[4] फिर भी, अपने समय के वीरशैव सुधारकों की भाँति ही, उनका प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक था और सामाजिक कार्य उससे गौण था उन्हें कदाचित् इस बात में पूर्ण विश्वास भी था कि यदि मानव हृदय को आध्यात्मिक रंग में रंग दिया जाय तो सामाजिक सुधार क्या प्रत्येक ढंग का सुधार आप से आप हो जा सकता है और इस प्रकार की धारणा में वे अन्य ऐसे सुधारकों से भी भिन्न नहीं कहे जा सकते।

ज्ञानेश्वर को वेदों के प्रति आस्था थी और उन्होंने शास्त्रादि के विषय में भी पक्षपातपूर्ण व्यवहार किया। किन्तु जिस समय से वे सन्त नामदेव के प्रभाव में आए उनके मत में बहुत कुछ परिवर्तन भी हो गया। सन्त नामदेव अपने समय के प्रमुख वारकरी भक्त थे। वारकरी लोगों का सम्प्रदाय अधिकतर उन्हीं लोगों का था जो समाज की ओर से उपेक्षित

---

१ 'सूत्रपाठ' विचार १४

२ डा० विष्णु भिकाजी कोलते : 'मराठी संतों का सामाजिक कार्य (बंबई, १९५४, पृ० १८)

३ "महारवाडा होंनि धर्म काढावा"—'सूत्रपाठ', आचार १४९।

४ 'लीला चरित्र, (उत्तरार्ध ५६)।

समझे जाने वाली जातियों के थे। इनके इष्टदेव वे ही विठ्ठल थे जो हरि-दासों के भी थे और जिनके पूजन अर्चन के लिए किसी पुरोहित जैसे माध्यम की आवश्यकता नहीं थी। सन्त नामदेव के समय महाराष्ट्र में तीन धार्मिक सम्प्रदाय चल रहे थे जिनमें से एक महानुभावों का था और इसका विशेष सम्बन्ध विदर्भ से था, दूसरा ज्ञानेश्वर आदि का प्रतिष्ठान पुरवाला सम्प्रदाय था जो प्राचीनता प्रेमियों का था और तीसरा यह वारकरी सम्प्रदाय था। इनमें से महानुभाव तथा वारकरी सम्प्रदायों में बहुत कुछ साम्य था। दोनों कृष्णभक्त थे, भक्ति मार्गी थे और नामकीर्तन को मानते थे, दोनों के लिए परमात्मा के सिवाय अन्य देवता त्याज्य थे, यज्ञ-यागादि कर्मों से विरक्ति थी और सामाजिक विषमता के प्रति विरोध था। परन्तु वेदों का विरोध, वारकरियों की ओर से, कभी खुल्लम खुल्ला नहीं हुआ। उन्हें अपनी जातिगत हीनता के लिए हार्दिक पश्चाताप था और यह प्रवृत्ति हम उन रैदास, कबीर आदि सन्तों में भी पाते हैं जो पीछे उत्तरी भारत की ओर उत्पन्न हुए थे। "पंढरपुर के वारकरी सम्प्रदाय के विठ्ठल भक्तों में नामदेव, उसका कुटुम्ब, जमाबाई दासी और अन्य सब जातियों के भक्त एकत्रित हुए थे। उनमें नरहरि सुनार, सेनानाई, गोराकुम्हार, सावतामाली और वंका तथा चोखा महार थे इन सभी के अभंगों में जातिहीनता का उल्लेख है।"[1] ज्ञानेश्वर स्वयं ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुए थे, किन्तु ब्राह्मणों ने उन्हें संन्यासी का पुत्र ठहरा कर जाति-बहिष्कृत कर दिया था। जब वे नामदेव के प्रभाव में आ कर वारकारी लोगों में भी सम्मिलित होने लगे उस समय, कदाचित् उन्हें भी इस बात का ध्यान था कि उस सम्प्रदाय के इष्टदेव विठ्ठल सर्वसाधारण क्या उपेक्षितों तक पर अपनी कृपा दृष्टि रखते हैं और वे सचमुच अशरण शरण हैं। उनके वारकरी सम्प्रदाय में प्रविष्ठ हो जाने पर एक ओर जहाँ उनके ऊपर वारकरियों का प्रभाव पड़ा वहाँ उनके व्यक्तित्व ने भी उन्हें प्रभावित किया और, इन दोनों के सम्प्रदायों के बीच गठबन्धन

---

१ 'मराठी संतों का सामाजिक कार्य' पृ० ४४-५।

हो जाने से, न केवल पारस्परिक समन्वय हुआ, अपितु महानुभाव के प्रति इन सभी का द्वेषभाव भी बढ़ा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विठोबा अथवा विट्ठल की भक्ति में शैव तथा वैष्णव मतों की विषमताएँ बहुत कुछ दूर होती दीख पड़ती थीं और उसकी व्यापक उदारता के आधार पर विठोबा को बौद्ध देवता तक मानने की ओर प्रवृत्ति हुई किन्तु इस बात में भी सन्देह नहीं किया जा सकता कि स्वयं वैष्णव धर्म के ही दो भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में उस समय भेदभाव का जन्म हो गया। एक ओर जहाँ वारकरी संप्रदाय के अनुयायियों में पढ़े लिखे बहुज्ञ पण्डितों का प्रवेश होने लगा जो महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थों पर भाष्य और टीकाएँ लिखने लग गए और दूसरी ओर निवृत्ति मार्ग पर विशेष बल देने तथा अपने ग्रन्थों को गुप्त रखने की चेष्टा ने महानुभावों को क्रमशः साधारण जन समाज से पृथक् करना आरंभ किया और दोनों के बीच की खाई अधिक चौड़ी ही होती चली गई। दोनों संप्रदायों के इस पारस्परिक भेदभाव से महानुभावों की हानि हुई, किन्तु वारकरियों ने इससे लाभ उठाया। इनमें से नामदेव तथा सेनानाई के उत्तरी भारत की ओर भी आकर अपने मत का प्रचार करने लगने के कारण, इधर के लोगों का भी ध्यान उस ओर आकृष्ट हुआ और, संभवतः, इनके जैसे भी उपदेशों से अनुप्राणित हो कर ही सन्त कबीर साहब ने अपना सन्त मत प्रवर्तित किया। सेना नाई का तो नहीं, किन्तु सन्त नामदेव का नाम इन्होंने बड़ी श्रद्धा के साथ लिया है और इनके मत की बहुत-सी बातें भी उनके उपदेशों पर आश्रित प्रतीत होती है।

वारकरी संप्रदाय के बहुत से ऐसे प्रचारक मिल सकते हैं जिनका सम्बन्ध किसी न किसी प्रकार उस क्षेत्र से भी था जिसे, इसके पहले, सन्त-साहित्य की रचना का क्षेत्र कह कर निर्दिष्ट किया जा चुका है। ऐसे लोगों ने बहुधा, मराठी के साथ-साथ हिन्दी भाषा में भी, अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की और, इस कारण, उनके साथ हिन्दी के सन्त-साहित्य का बहुत निकट का सम्बन्ध है। ये लोग वैष्णव धर्म के ही एक संप्रदाय विशेष के अनुयायी थे, किन्तु इनकी विचारधारा एवं साधना तमिल प्रान्त में उत्पन्न एवं क्रमशः

विकसित होती गई प्रवृत्तियों द्वारा प्रभावित थीं और, इसी कारण, इनके उपदेशों में हमें सांप्रदायिकता की गंध का अभाव दीख पड़ता है और इनमें हमें कभी-कभी विचार स्वातंत्र्य के साथ-साथ वैसी उदारता भी लक्षित होती है जो अत्यन्त व्यापक और सार्वभौम है। इसका एक कारण यह हो सकता है कि भक्तिभाव जो वैष्णव धर्म का सर्वस्वरूप था इधर के क्षेत्रों में ही पल्लवित एवं पुष्पित हुआ था और यहाँ के शैव धर्म, बौद्ध धर्म, आदि की प्रतिक्रिया के रूप में इसमें ऐसे आकस्मिक परिवर्तन भी होते गए थे जिनके कारण, उसका रूप अधिकाधिक परिमार्जित और परिष्कृत होकर तदनुसार व्यापक भी होता चला गया था। फलतः इसकी सारग्राहिता एवं आत्मसात् करने की शक्ति ने इसमें सांस्कृतिक देन की अपूर्व क्षमता लादी और इसका महत्व भी बढ़ गया।

सन्त कबीर साहब ने जिस श्रद्धा के साथ सन्त नामदेव का नाम लिया है उससे कम आदर के साथ उन्होंने जयदेव का भी स्मरण नहीं किया। सन्त जयदेव कौन थे इस विषय में आज तक निश्चित नहीं हो पाया है किन्तु अधिक मत अभी तक इसी पक्ष में है कि वे प्रसिद्ध 'गीत गोविन्द' कार भक्त जयदेव से अभिन्न थे तथा जैसा पहले भी कहा जा चुका है वे कुछ दिनों तक गौडेश्वर लक्ष्मण सेन के दर्बारी कवि भी रह चुके थे। किन्तु कुछ दिनों से, किसी चक्रदत्त कवि की 'भक्तमाला', महीपति के 'भक्तविजय' ग्रन्थ आदि कतिपय प्रमाणों के आधार पर, उनका जन्मस्थान उत्कल प्रान्त में भी बतलाया जाने लगा है और इस अनुमान की पुष्टि में यह भी कहा जाता है कि जयदेव की वैष्णव भक्ति विशेषकर बौद्ध सहजयान द्वारा प्रभावित थी। इस मत के समर्थकों ने उत्कल प्रान्त के पुरी जिले में अवस्थित 'केन्दुली ससन' नामक ग्राम को उनकी जन्मभूमि के रूप में स्वीकार किया है और इस प्रकार, उस दूसरे केंदुली नामक ग्राम का परित्याग कर दिया है जो पश्चिमी बंगाल प्रान्त के वीरभूम ज़िले में पड़ता है। पुरी ज़िले वाले केंदुली ससन के ही निकट 'केंदुली पत्ना' और 'देउली केंदुली' नामक स्थान भी हैं और ये तीनों ही 'प्राची' नदी के तीर पर बसे हैं। इस केंदुली-क्षेत्र में भ्रमण कर तथा

उधर के लोगों की 'गीत गोविन्द' के प्रति विशेष निष्ठा के विचार से भी लोग उपर्युक्त निर्णय पर पहुँचे हैं। जयदेव कवि की एक रचना 'पियूष लहरी' नाम से भी मिली है जिसमें गोपियों के साथ कृष्ण द्वारा रचे गये उस रास का वर्णन है जो वसंत ऋतु में अभिनीत हुआ था और जिसका आधार 'ब्रह्मवैवर्त पुराण', न कि 'श्री मद्भागवत', हो सकता है तथा, इस बात के लिए विशेषतः उत्कल कवियों को ही प्रसिद्ध बतला कर भी, अपने उक्त कथन को पुष्ट किया गया है।[१] लेखक द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रमाणों में तथ्य की कमी नहीं दीख पड़ती और उसके तर्क इस प्रश्न पर गम्भीरतापूर्वक सोचने के लिए हमें बाध्य कर देते हैं।

प्रोफेसर कर की उपर्युक्त धारणा के अनुसार 'गीत गोविन्द' कार जयदेव का समय राजा कामार्णव तथा पुरुषोत्तमदेव अथवा राज राजदेव के शासन-काल में पड़ता है जो सन् ११४२ से लेकर ११६० ई० तक था और इस प्रकार यह समय भी विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में ही पड़ता है। इनके मत का समर्थन श्री किशोरीदास रचित 'निजमत सिद्धान्त' से भी होता दीख पड़ता है, यद्यपि नामादि के विषय में कुछ अन्तर का आ जाना संभव है।[२] अतएव, संभव है कि कवि जयदेव उत्कल प्रान्त के ही मूल निवासी हों किन्तु पीछे उनका सम्बन्ध बंगाल प्रान्त के साथ भी हो गया हो। यदि यही जयदेव उन पदों के भी रचयिता हों जो 'आदि ग्रन्थ' में संगृहीत हैं और जिन के आधार पर इन्हें सन्तों का पथप्रदर्शक समझा जाता है तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उन पदों में से एक की रचनाशैली बहुत कुछ 'गीत गोविन्द' से मिलती है और दूसरे पद की शब्दावली पर बौद्ध

---

१ 'Piyusa-Lahari' (edited by Pandit Karmarkar Kar and published in 'The Journal of the Kalinga Historical Research Society, volume I No. 4, March 1947) pp 291-300.

२ श्री किशोरीदास : 'निजमत सिद्धान्त' (मध्व खण्ड) पृ० १५।

सिद्धों की रचनाओं का प्रभाव स्पष्ट है जो उस काल के किसी उत्कलीय वैष्णव कवि के विषय में कभी असंभव नहीं कहा जा सकता।[१] उत्कल प्रान्त में बौद्ध धर्म का प्रवेश सम्राट् अशोक के समय से भी हो सकता है, किन्तु उसका पूरा प्रचार यहाँ पर नागार्जुन के पहुँचने पर ही आरंभ हुआ। चीनी यात्री ह्वेनसांग के समय तक यह धर्म वहाँ पर फैल चुका था और ईसा की आठवीं नवीं शताब्दी तक यह वहाँ अपने परम उत्कर्ष तक पहुँच गया। फलतः यह असंभव नहीं कि इस बात का प्रभाव पुरी में भी जाने वाली जगन्नाथ की उपासना-पद्धति पर भी पड़ गया हो। डा० राजेन्द्र लाल मित्र का कहना है कि जगन्नाथ की प्रतिमा के भीतर बुद्ध के किसी दांत का भी सुरक्षित होना संभव है[२] और डा० हंटर ने तो यहाँ तक बतलाया है कि "पुरी का वैष्णव धर्म पुराने बौद्ध धर्म का ही उत्तराधिकारी है"। एन् एन् वसु ने उत्कल प्रान्त में प्रचलित सृष्टि सम्बन्धी धारणाओं को नागार्जुन के शून्यवाद द्वारा प्रभावित ठहराया है[3] और इन बातों का समर्थन उन कई पंक्तियों से भी होता है जो धर्म संप्रदाय की रचनाओं में पाई जाती हैं[४] तथा पीछे जिन्हें स्वयं वहाँ के वैष्णव कवियों ने ही लिखा है।

एन्. एन्. वसु महोदय का कहना है कि उत्कल के वैष्णव धर्म वाले दर्शनानुसार 'शून्य' शब्द का अर्थ 'कुछ नहीं' नहीं है। यह शब्द स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् को सूचित करता है जो 'अलेख' कहला कर भी प्रसिद्ध हैं और

---

१ दे० 'उत्तरी भारत की सन्त परम्परा', लीडर प्रेस, प्रयाग सं. २००८) पृ० ९८।

२ 'The Antiquities of Orissa' Vol II pp 105-6.

३ Modern Buddhism in orrisa pp. 111-2.

४ "जलधिर तीरे स्थान बौद्ध रूपे भगवान् हम्या तुमि कृपावलोकन" तथा "नवम् मूर्ति ते हरि जगन्नाथ नाम धरि जलधिर तीरे कैलावास।

"धर्म पूजा विधान" पृ० २०६-७।

इस प्रकार 'शून्य' एवं 'अलेख' पर्यायवाची से भी है।[1] वैष्णव कवि चैतन्य दास ने कहा है कि वह 'निर्गुण पुरुष' है, किन्तु वह गुणरहित नहीं है, प्रत्युत गुणों से परे तथा उनसे स्वतंत्र है। वह निरपेक्ष जब शून्य के रूप में व्यक्त होता है तो उसे 'शून्य पुरुष' भी कहा करते हैं और वही त्रिगुणात्मिका सृष्टि का भी कारण है।[2] जब उसने अलेख एवं अनाकार रहने पर भी, रूप धारण किया तो उसे ही 'निराकार' विष्णु भी कहा गया।[3] वही विराट् पुरुष भी और ज्योतिस्वरूप भी है।[4] बिंदु तत्व के अन्तर्गत शून्य एवं गुण दोनों का समावेश रहता है क्योंकि बिन्दुरूप में आने पर शिव भी गुणयुक्त हो जाते हैं। वैष्णव कवि कहते हैं कि बिन्दु जब योगमाया के गर्भ में पड़ा तो उसीसे 'र' एवं 'म' की उत्पत्ति हुई जिसके क्रमशः राधा एवं कृष्ण प्रतीक हैं और, इसी कारण, 'गणेश विभूति टीका' के अनुसार वे दोनों वस्तुतः बहन और भाई हैं।[5] इस कथन का एक अन्य रूप पुरी में स्थित जगन्नाथ की उस विग्रह मूर्ति से भी प्रमाणित किया जा सकता है जिसमें उनके साथ सुभद्रा दीख पड़ती है। वह श्रीकृष्ण तथा बलदेव के बीच वर्तमान है और उसीके सम्बन्ध में बराहमिहिरने कदाचित्, 'एकावंशा' का भी प्रयोग किया है।[6] 'स्कन्द पुराण' के 'उत्कल खण्ड' में तो स्पष्ट शब्दों में कह दिया गया है "यह एक ही साथ उनकी भगिनी एवं स्त्री भी है।"[7] इस प्रकार इस विचित्र सम्बन्ध का कारण भी यही हो सकता है कि उल्लेखनीय वैष्णव धर्म, बौद्ध

---

१ "अलेख पुरुष शून्य दुहें एक इ समान" विष्णु गर्भ पुराण (अध्याय ३)।

२ "शून्य संहिता" (अध्याय ८)।

३ अलेख आणाकार यहुँ आकार धइला।
नाहाङ्कर नाम निराकार विष्णु हेला॥" विष्णु गर्भ पुराण (अध्याय २)।

४ "विराट ज्योति रूपे धाइ" ब्रह्माण्ड भूगोल (२८)।

५ "भाइ भग्नी राधाकृष्ण शुण मन देइ"—'गणेश विभूति टीका' (१६)

६ "वृहत्संहिता" (५८।३६-७)।

७ "तस्यशाक्ति स्वरूपेणं भगिनी स्त्री प्रवात्तिका" (१६।१७)।

धर्म की विचारधाराओं द्वारा प्रभावित हो।

बौद्ध धर्म की ही भाँति शैव धर्म ने भी उत्कलीय वैष्णव धर्म को प्रभावित किया है। उत्कल प्रदेश के गंगवंशी नरेश पहले शैव ही थे। ईसा की आठवीं तथा नवीं शताब्दियों से शैव धर्म का प्रचार यहाँ पर विशेष रूप से होने लगा था और, स्वा० शंकराचार्य के वहाँ तक पहुँच जाने के कारण, उसकी उन्नति में बहुत बड़ी सहायता मिल चुकी थी। गंगवंशी राजाओं के समय में शाक्त धर्म का भी यहाँ पर प्रचार होने लगा था और शाक्त तांत्रिकों ने जगन्नाथ को भैरव के रूप में स्वीकार कर लिया था। किन्तु ११ वीं शताब्दी से वैष्णव धर्म ने इन सभी धर्मों पर विजय पा ली और इनकी कुछ न कुछ बातें स्वयं अपने भीतर ग्रहण कर, इन्हें यहाँ पर केवल गौण रूप दे दिया। अनुमान किया गया है कि स्वामी रामानुजाचार्य यहाँ पर सन् ११२२ और सन् ११३७ के बीच किसी समय आए थे और उस समय अर्थात् बारहवीं शताब्दी के अनन्तर जगन्नाथ की मूर्ति विशुद्ध वैष्णव रूप में ही स्वीकृत हो गई।[1] फिर तो यहाँ पर चैतन्यदेव भी आए और उन्होंने अपने जीवन का लगभग एक चौथाई भाग यहीं पर बिताया तथा यहीं रह कर उन्होंने शरीर त्याग भी किया। उत्कल के वैष्णव कवि जो सब से प्रसिद्ध हैं वे संख्या में पाँच माने जाते हैं और उन्हें 'पंचसखा' का भी नाम दिया जाता है। ये सभी ईसा की १६ वीं से लेकर १७ वीं शताब्दी तक की अवधि में वर्तमान थे और इनकी ऊपर उद्धृत की गई पंक्तियों से पता चल सकता है कि वैष्णव धर्म कहाँ तक और किस काल तक अन्य धर्मों द्वारा प्रभावित हुआ रहा होगा।

एन् एन् वसु की पुस्तक 'दि माडर्न बुधिज्म इन ओरीसा' की 'भूमिका' लिखते समय स्व० महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने कतिपय बातों का उल्लेख किया है जिनसे पता चलता है कि बौद्ध धर्म किस समय

---

१ "The History of Medieval Vaishnavism in Orissa" p. 39.

तक बंगाल प्रान्त के आसपास प्रचलित था। उन्होंने अन्य कई बातों के अतिरिक्त इसका भी उल्लेख किया है कि ईसा की पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक बौद्ध धर्म की पुस्तकों को बंग देश के ब्राह्मण पढ़ा करते थे और उसके मध्य काल तक ऐसी पुस्तकों की प्रतिलिपियां तयार की जाती थीं। उस पुस्तक में यह भी कहा गया है कि बारहवीं शताब्दी के युग में बंगाल तथा पूर्वी भारत के अन्य भागों में भी कम से कम सात प्रकार के धर्म प्रचलित थे। इनमें से एक ब्राह्मण धर्म था जिसे राढव वारेन्द्र के ब्राह्मण एवं कायस्थ मानते थे, दूसरा हीनयान था, तीसरा महायान था जिसके अनुयायी उच्च वर्ग के लोग थे, चौथा वज्रयान था जिसे मध्यम वर्ग के लोग पसन्द करते थे, पाँचवां नाथपन्थ था जिसे जोगी लोग मानते थे छठा सहजिया संप्रदाय था जिसके अनुयायी मध्यम वर्ग से नीचे वाले लोग थे और सातवां तांत्रिक धर्म था[1]। मुस्लिम आक्रमण के पहले बंगाल के अन्तर्गत केवल पाँच कुलों के ब्राह्मण थे और पाँच के ही कायस्थ थे शेष सभी बौद्ध कहला सकते थे[2]। बाबू अक्षयकुमारदत्त के मत को उद्धृत करते हुए वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि विठोबा अथवा विट्ठल की पूजा अवशिष्ट बौद्ध धर्म के ही प्रभाव का परिणाम है और वह देवता विष्णु के नवें अवतार के रूप में गोदावरी के निकटवर्ती जिलों में पूजा जाता है तथा, उसी प्रकार, पुरी के जगन्नाथ भी बुद्ध के अवतार अथवा विष्णु के ही बुद्धावतार के रूप में आज तक माने जाते हैं।[3]

यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि बंगाल प्रदेश में उन दिनों विभिन्न धर्मों के अनुयायियों का पारस्परिक व्यवहार कैसा रहा था। इतिहास से पता चलता है कि उन दिनों साम्प्रदायिक संकीर्णता बहुत कम अंशों में दीख

---

१ Nagendranath Vasu : The Modern Buddhism in Orissa (Calcutta, 1911) p. 13

२ Do p. 21.

३ Do p. 26-7

पड़ती थी। चटगाँव के कान्तिदेव वाले उपलब्ध फलक से पता चलता है कि एक ही कुटुम्ब में भी भिन्न-भिन्न धर्मों के अनुयायी रह सकते थे। उदाहरण के लिए कान्तिदेव के पितामह भद्रदत्त जहाँ बौद्ध थे और वे स्वयं भी बौद्ध थे वहाँ उनके पिता एक पौराणिक अथवा स्मार्त धर्मी थे और उनकी माता शैव थीं। इसी प्रकार एक धर्म से दूसरे धर्म में कई बातों के आदान-प्रदान की भी चलन थी, जैसे विष्णु को योगासन की मुद्रा में प्रदर्शित किया जाना शिव का ध्यानी रूप दिखलाया जाना, आदि जो वस्तुतः बौद्ध-धर्म के ही अनुकरण में किया गया जान पड़ता था। जावा के द्वीप में तो शिव एवं बुद्ध दोनों के संयुक्त आधार पर एक नवीन पंथ ही चल पड़ा। स्वयं हिन्दू-धर्म के ही विभिन्न अंगों में पारस्परिक मेल की ओर संकेत किया गया मिलता है और पता चलता है कि ब्रह्मा-विष्णु एवं हरि-हर के रूपों में संयुक्त मूर्तियों का निर्माण कर लोग इस ओर भी प्रायः उसी प्रकार सचेष्ट थे,[१] जैसे केरल-प्रान्त के निवासी थे। फिर भी बंगाल-प्रान्त की ओर धीरे-धीरे हमें वैष्णव-धर्म का ही प्रचार होता जाता दीख पड़ता और वह अन्य मतों को अपने में रूपांतरित करता भी जाता है।

आसाम-प्रान्त की दशा भी बंगाल से बहुत भिन्न नहीं थी और वहाँ पर भी हमें लगभग वैसी ही प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। शैव-धर्म यहाँ पर, कदाचित् सब से अधिक लोकप्रिय रहा और 'कालिका-पुराण' के आधार पर कहा गया है कि इससे सम्बन्ध रखने वाले तीर्थ-स्थानों की संख्या वैष्णव अथवा शाक्त-धर्म की अपेक्षा कहीं अधिक रही; इनका अनुपात क्रमशः १५, ४ और ५ का था।[२] आश्चर्य तो यह है कि शाक्त-धर्म के विषय में ऐतिहासिक शिलालेखादि का अभाव-सा है। वैष्णव-धर्म ईसा की सातवीं

---

१ Dr. B. K. Barna : 'A Cultural History of Assam', Early Period, Vol I, Nowgong, 1951 p. 143.

२ Pramode Lal Paul : 'The Early History of Bengal' Vol II (Calcutta, 1940) pp. 110-4

शताब्दी से अधिक लोकप्रिय होने लगता है और यहाँ पर विष्णु के विभिन्न अवतारों की पूजा का भी विशेष प्रचार दीखता है। बौद्ध धर्म के विषय में ह्वेन सांग ने लिखा है कि उसके वहाँ पहुँचने के समय तक इसका प्रचार केवल नाम-मात्र को था। इसकी लोकप्रियता केवल बौद्ध तन्त्रों के कारण पीछे बढ़ी जब यहाँ वज्रयानियों का भी प्रभाव बढ़ने लग गया। फिर भी ह्वेन सांग के यात्रा विवरणों से यह भी पता चलता है कि वह प्रसिद्ध भास्कर वर्मन के साथ सम्राट् हर्ष द्वारा आयोजित प्रयाग की 'महा मोक्षपरिषद्' में सम्मिलित होने गया था, जहाँ ७५ दिनों तक उत्सव रहा और एक ही साथ बुद्ध, आदित्यदेव (सूर्य) तथा ईश्वरदेव (शिव) की पूजा की गई। इसके सिवाय कामरूप के राजाओं की यह एक विशेषता थी कि धार्मिक बातों में वे अत्यन्त उदार थे। वैद्यदेव अपने को एक ओर जहाँ 'परममाहेश्वर' कहते थे, वहाँ दूसरी ओर 'परम वैष्णव' की भी उपाधि धारण करते थे। वल्लभदेव भागवत वासुदेव तथा लम्बोदर दोनों का आवाहान किया करते थे और धर्मपाल भी शिव तथा विष्णु दोनों की आराधना करते थे।

वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म, एवं बौद्ध-धर्म इन तीनों द्वारा प्रभावित अथवा इन तीनों के सहयोग द्वारा उत्पन्न एक संप्रदाय भी उधर प्रचलित था, जिसके उपास्यदेव 'धर्म-ठाकुर' थे और जिसका प्रमुख केन्द्र बङ्गाल का राढ़-प्रदेश था। इस संप्रदाय का पता विशेष कर ईसा की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के समय से चलने लगता है और यह ग्रामीण-समाज के ही धर्म के रूप में दीख पड़ता है। धर्म ठाकुर को कभी-कभी 'धर्मराज' कहा गया है और कभी-कभी केवल धर्म नाम से भी अभिहित किया गया है और उनके विषय में हमें कुछ पता 'शून्य-पुराण' से चल जाता है, 'शून्य-पुराण' में हमें सृष्टि की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में भी एक बिवरण मिलता है, जो बहुत कुछ सन्त-साहित्य की कल्पना के अनुकूल है। धर्म-संप्रदाय में किसी मूर्ति की पूजा का विधान नहीं, किन्तु कहीं-कहीं किसी एक प्रस्तर-खंड का भी उपयोग कर लिया जाता था। धर्म-ठाकुर स्वयं शून्य रूप से हैं और उनके ध्यान के लिए जो मन्त्र पढ़ा जाता रहा, उससे पता चलता है कि उनके प्रायः वे ही

विशेषण दिए गए हैं जो सन्त-साहित्य के अन्तर्गत परमतत्त्व अथवा परमात्म-तत्त्व के लिए दिए जाते हैं और उनका वर्णन भी वैसा ही है। इस मन्त्र में कहा गया है—"उस शून्य मूर्ति का ध्यान करना चाहिए, जिसका न तो अन्त है, न मध्य है, न आदि है, जिसे न तो चरण है, न शरीर है और न वाणी है, न आकार है, न रूप है, न जिसे मरण का भय है न जन्म ही है, जो केवल योगियों के ही ध्यान में आने योग्य है, जो सभी में व्याप्त है और जो सभी का स्वामी है, जो भक्तों की इच्छा पूर्ण करने वाला है और जो सुर-नर सभी के लिए वरदायक है।[1]" इस देवता के नाम 'धर्म' से हमें बुद्ध के उस 'धर्मराज' नाम का भी स्मरण हो आता है, जिसका उल्लेख 'शास्ता' के साथ 'अमर-कोश' में किया गया है।

बंगाल-प्रान्त की ओर उन दिनों नाथ-पंथी योगियों की भी प्रसिद्धि कम न थी। ये योगी व जोगी उस समय तक सारे देश-भर में अपना प्रचार कर चुके थे और उनके मत एवं साधनाओं का प्रभाव प्रायः प्रत्येक प्रान्त के तत्कालीन साहित्य पर प्रत्यक्ष रूप में दीख पड़ता है। नाथ-पंथ का मूल सम्बन्ध शैव-धर्म से था और नाथ-पंथ को उस धर्म के एक संप्रदाय के रूप में स्वीकार करने की परम्परा भी चली आई है किन्तु अपने प्रचार-कार्य द्वारा उसके प्रमुख अनुयायियों ने अन्य धर्मों के लोगों पर भी अपना स्पष्ट प्रभाव डाल दिया। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध वैष्णव कवि ज्ञानेश्वर, जिनकी चर्चा इसके पहले ही आ चुकी है, अपने को नाथ-पंथ का अनुयायी स्वीकार करते थे और इस बात का पता उन्होंने, आदिनाथ से लेकर मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ,

---

१ "यस्यान्तो नादिमध्या न च करचरणौ नास्ति कायो न नादः।
नाकारो नैवरूपं न च भय मरणे नास्ति जन्मान यस्य ॥
योगेन्द्रैर्ध्यानगम्यं सकल जन मयं सर्वलोकैक नाथम्।
भक्तानां कामपूरं सुरनर वरदं चिन्तयेत् शून्य मूर्त्तिम् ॥
(श्री आशुतोष भट्टाचार्य प्रणीत "बांगला मङ्गल काव्येर इतिहास"
पृष्ठ ४७६ पर उद्धृत)।

गैनीनाथ तथा अपने अग्रज निवृत्तिनाथ तक भी क्रमिक गुरु-परम्परा का वर्णन करके दिया है तथा उन्होंने अपनी रचनाओं में भी नाथ-पंथ के बहुत-से सिद्धान्तों का समर्थन किया है। महाराष्ट्र में नाथ-पंथी साहित्य की रचना अच्छी संख्या में हुई और मराठी के कई कवि और लेखक बहुत पीछे तक योग-साधना किया करते थे।[1] कन्नड़-प्रान्त के हरिदासों वा दासकूटों की रचनाओं में भी हमें योग साधना परक शब्दावली का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इधर उत्कल से लेकर आसाम-प्रान्त के प्रदेश में तो इस मत का प्रचार कदाचित् और भी अधिक था। उत्कल के 'पंच सखा' वैष्णव-भक्तों ने अपनी रचनाओं में 'जोपिंड में है, वह ब्रह्मांड में है' के मत को विशेष महत्वपूर्ण स्थान दिया है और वृन्दावन को अधिक महत्व न देकर उस गोलोक में ही आस्था प्रकट की है जो निराकार-मण्डल के रूप में अपने शरीर में ही अवस्थित है।[2] नाथ-पंथ का प्रभाव पश्चिमी भारत में बहुत अधिक था और पंजाब एवं राजस्थान के बहुत-से लोगों की तो अभी तक यह दृढ़ धारणा रहती आई है कि गुरु गोरखनाथ उधर के ही थे। गुरु गोरखनाथ का संबंध नेपाल के साथ भी बतलाया जाता है और उनके गुरु मत्स्येन्द्रनाथ का निवास-स्थान आसाम-प्रान्त का कामरूप-जैसा स्थल ठहराया जाता है, जहाँ तन्त्र-मन्त्रादि की परम्परा भी अतिप्राचीन काल से चली आती है।

सन्त कबीर साहब ने गुरु गोरखनाथ का उल्लेख बड़े सम्मान के साथ किया है और उन्हें स्वयं 'गोविंद' तक का महत्व देते से वे जान पड़ते हैं। उनके वर्णनों द्वारा न केवल यही प्रतीत होता है कि वे एक पहुँचे हुए योगी थे और 'रामगुन बेलड़ी' के विशेषज्ञ थे, अपितु उनसे यह भी पता चलता है कि उनके समय में नाथ-पंथी उनका नाम 'गोरख, गोरख' कदाचित् उसी प्रकार जपा करते थे, जैसे कोई रामनाम लेता है। ये लोग आसन मारते थे, कानों में 'मंजूषा' पहनते थे 'खिंथा' धारण करते थे तथा ध्यान लगाया करते

---

१ विनायक लक्ष्मण भावे "महाराष्ट्र सारस्वत" (पुणें शके १८७६) पृ० ४७

२ "निराकार मण्डल ए गोलोक राहास" (शून्य संहिता)।

थे। नाथ-पंथी योगियों द्वारा प्रभावित शैव-साधकों का जहाँ प्रमुख उद्देश्य था कि वे उनकी साधना की सहायता से शक्ति एवं शिव के मिलन की समरसता का अनुभव करें तथा तज्जन्य अध्यात्मिक शक्ति का संचय कर अमरत्व के अधिकारी बने वहाँ, उसी प्रकार वैष्णव-साधकों का भी लक्ष्य हो सकता था कि वे अपने भीतर ही राधा एवं कृष्ण के परमप्रेमाश्रित अद्वितीयता का अनुभव करें और तदनुसार उस अनिर्वचनीय दशा का रसास्वादन करें जो केवल नित्य गोलोक में ही संभव है। नाथ-पंथियों का चरित्रबल उस काल के तांत्रिक साधकों की अनियन्त्रित जीवन-पद्धति के ठीक विपरीत पड़ता था और सामाजिक दृष्टि से केवल इस नाते से भी, विशेष आकर्षक था। नाथ-योगी न केवल गुप्तकंदराओं में अभ्यास करने को ही महत्व देते थे, वे 'रमता जोगी' बन कर 'अलख जगाते' भी फिरा करते थे अतएव सर्वसाधारण का उनके संपर्क में आना और उनसे न्यूनाधिक प्रभावित भी रहना कुछ कठिन नहीं था। इसीलिए उन्होंने अपने कार्य-क्षेत्र वाले प्रत्येक श्रेणी के लोगों को अपनी ओर आकृष्ट किया। मयनावती एवं गोपीचन्द जैसे क्रमशः रानी एवं राजकुमार को तो प्रभावित ही किया, राजा भर्त्तहरि तक को पूर्ण विरक्त बना डाला। सन्त कबीर साहब ने बड़े मार्मिक शब्दों में इस महापुरुष के गुरु गोरख के प्रति आकृष्ट होकर सर्वस्व त्याग एवं अमरत्व प्राप्त कर लेने का वर्णन किया है।[४] गुरु गोरखनाथ केवल एक व्यक्ति-मात्र नहीं थे; वे एक जीती-जागती संस्था के रूप में अपने पीछे की कई शताब्दियों तक निरन्तर बने रह गए।

योगियों व जोगियों के लिए कहा गया है कि इनकी परम्परा बहुत प्राचीन है और यह शैव संप्रदायों के ही किसी अवशिष्ट अंश को सूचित करती है। जान पड़ता है कि ऐसे संप्रदाय पहले दार्शनिक सिद्धान्तों को ले लेकर चले थे और पीछे निरे सन्यासियों के पन्थों में ही परिणत हो गए। कुछ लोगों का अनुमान है कि नाथ-पन्थी 'जोगियों' की परम्परा उस क्रम में

---

४ कबीर ग्रन्थावली (का० ना० प्र० सभा, १९२८), पद २६६, पृ० १८६।

ही आती है, जिसमें पाशु पत, लकुलीश, कालामुख और कापालिक तथा अघोरी तक की गणना की जाती है और जिनमें से प्रथम संप्रदाय सर्वप्रमुख स्थान रखता है।[१] डा० फर्कुहर ने तो यहाँ तक अनुमान किया है कि ये लोग वस्तुतः कापालिक ही हैं, जिन्हें कबीर ने पीछे, प्रभावित करके सुधार दिया है।[२] परन्तु यह पूर्ण तथ्य नहीं हो सकता। कापालिकों के विषय में किये गए वर्णनों से पता चलता है कि वे अधिकतर नग्न वेष में रहते थे, टोपी पहने रहते थे, श्मशान की भस्म लपेटा करते थे, खोपड़ी हाथ में लिए घूमते थे, मादकता में चूर जैसे दीख पड़ते थे, बलिदान करते रहते थे और चमत्कार-प्रदर्शन के प्रेमी थे। ये कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जो उनमें साधारणतः देखी जा सकती थीं। किन्तु नाथपन्थी योगियों के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते, इन्हें न तो खोपड़ी लिए फिरने से कोई काम था और न मादक वस्तुओं के सेवन आदि से ही। वे तो इसके घोर विरोधी तक समझे जाते थे। इन योगियों की प्रमुख विशेषताओं में इनका कनफटा होना, सेल्टी धारण करना और अलख जगाते फिरना था, जो उनसे बहुत भिन्न बातें हैं। सन्त कबीर साहब ने ऐसे लोगों को यदि कोई चेतावनी दी तो केवल यही कि वे केवल 'डण्डा, मुद्रा, खिंचा' और 'आधारी' के धारण करने तथा प्राणायाम कर लेने-मात्र को ही सब-कुछ न मान बैठें और न केवल काया-शोधन को ही ऐसा समझ कर गर्वान्वित हो जाएँ; अपने शरीर को 'जोगी' बनाने की अपेक्षा अपने मन को ही 'जोगी' बनाने की चेष्टा करें[३] जो नाथ-पन्थ का भी वास्तविक ध्येय है। सन्त जयदेव ने भी जो अपना 'आदिग्रन्थ'

---

१ George weston Briggs : "Gorakhnath and the Kanphata Yogis" (Calcutta 1938). P. 218

२ Dr. J. N. Farquhar "Out lines of the religions literature of India" (London 1920), p. 347.

३ "कबीर ग्रन्थावली" पद १३४ (पृ० १३१), पद १९२ (पृ० १५३), पद ३८७ (पृ० २१६) आदि।

वाला योगसाधना विषयक पद लिखा है उसमें भी 'ब्रह्म निर्माण' में 'लव-लीन' होने को ही सिद्धि ठहराया है।[1]

नाथ पंथियों का प्रभाव मुस्लिम फ़कीरों पर भी कम न था और कुछ ऐसे लोगों की गणना तो इस पंथ के एकाध प्रवर्तकों तक में की जाती है। गोरखनाथी कनफटा जोगियों की द्वादश प्रमुख उपशाखाएँ बतलाई जाती हैं जिनमें कम-से-कम दरिया नाथों तथा रावलों के नेता मुस्लिम फ़कीर थे। दरियानाथों का सम्बन्ध पहले हठ नाथों से था और ये बहुत दिनों से उत्तरी भारत, पंजाब एवं सिंध की ओर अधिक संख्या में पाये जाते हैं। दरिया शाह एक बालक फ़कीर था, जिसकी दरगाह सिंध-प्रदेश के उडेरोलाल में है और दरिया शाह का भी एक नाम उडेरोलाल व जिंदा पीर है। रावल जोगी दरियानाथों से भी अधिक प्रसिद्ध हैं और उनका मुख्य स्थान पश्चिमी पंजाब में है। रावलपिंडी इन्हीं के नाम पर प्रसिद्ध है। मुस्लिम नाथ पन्थी जोगियों में बाबा रतननाथ और इस्माइल जोगी के भी नाम लिए जाते हैं। प्रसिद्ध सूफ़ी फ़कीर शेख मुईनुद्दीन चिश्ती के लिए भी कहा गया है कि वे गोपनीय साधना की शिक्षा देते थे, जिसमें त्रिकुटी ध्यान और हठयोग के आसन भी सम्मिलित थे। अनहद नाद की साधना वहाँ 'शगले सौते' कहलाती थी और कुण्डलिनी तथा सहस्रार आदि की भी चर्चा की जाती थी।[2]" सूफ़ी साधकों पर इस प्रकार नाथ-पन्थी जोगियों के प्रभाव का अनुमान किया जा सकता है। सन्त-साहित्य के रचयिताओं का सूफ़ियों द्वारा भी कुछ-न-कुछ प्रभावित होना सभी स्वीकार करते हैं और उनके इस प्रभाव को प्रेम-तत्व के रूप में अनुमानित किया जाता है। सूफ़ी फ़कीरों के ऋणी अधिकतर वे ही सन्त हैं जो चाती मुस्लिम कुल में उत्पन्न होने के कारण ऐसे मतों द्वारा

---

१ "संत-काव्य" (परशुराम चतुर्वेदी द्वारा संपादित)–किताब-महल, इलाहाबाद (पृ० १३६)।

२ डॉ० कल्याणी मल्लिक : "नाथ सम्प्रदायेर इतिहास, दर्शनओ साधना-प्रणाली" (कलकत्ता १९५० ई०), पृ० १८७।

स्वभावतः प्रभावित हो सकते थे अथवा कुछ वे भी हैं जो पश्चिमी भारत के निवासी थे और जिनको वैसे वातावरण में रहने का अवसर मिला था।

सन्त जयदेव के समय बंगाल पर मुसल्मानों का आक्रमण होना स्वीकार कर लेने पर भी उनका उनसे प्रभावित भी होना सिद्ध करना सरल नहीं है, जब तक यह भी न मान लिया जाए कि उनका सम्बन्ध कभी पंजाब अथवा सिन्ध से भी रहा था। उनके समय तक भारत में आने वाले सूफ़ियों की रचनाओं का फ़ारसी को छोड़ कर हिन्दी आदि में होना भी अभी तक प्रमाणित करना कठिन है। जो सूफ़ी उन दिनों तक अपने मत पर लिखते थे अथवा उसका उपदेश देते थे, वे विशेष कर फ़ारसी का ही प्रयोग कर पाते थे। सन्त नामदेव के समय बन्दा नेवाज़ दिल्ली से दक्षिण की ओर जा चुके थे और इनके जीवन-काल संवत् १३२६-१४०७ के भीतर कदाचित् वे कुछ कहने भी लगे होंगे किन्तु अनुमान किया जाता है कि सन्त नामदेव, सन्त ज्ञानेश्वर के समाधि ले लेने अर्थात् सं० १३५३ के कुछ ही दिनों पीछे पंजाब की ओर आ गए थे, इसलिए यदि उनके ऊपर किसी सूफ़ी प्रभाव का अनुमान किया जाए तो उसका उत्तरी भारत की ओर से ही पड़ना अधिक सम्भव है। इन सन्तों ने सूफ़ियों से अपने इष्टदेव के प्रति पीर तथा विरह के भाव को कुछ-न-कुछ अंशों में अवश्य ग्रहण किया होगा। इनका यह बतलाना कि पहले विरह की वेदना उठती है, तब कहीं पीछे प्रेम-तत्व का परिचय उपलब्ध होता है, सूफ़ियों की देन हो सकता है। सन्तों ने सूफ़ियों से कदाचित् उक्त वेदना की उस तड़प व तीव्रता को भी हृदयंगम किया है, जिसे वे प्रेमगाथाओं द्वारा प्रदर्शित करते हैं। फिर भी इन्हें उनका प्रेम कहानियों का माध्यम अपनाना बहुत कम पसन्द आया। वे स्वयं अपनी राम-कहानी को ही अधिक महत्व देते रह गए और यदि इनमें से किसी ने कभी उस ओर ध्यान भी दिया तो उस पर कुछ-न-कुछ अपना ही रंग चढ़ाया। प्रेम की पीर एक ऐसा विषय था, जिसका वर्णन किसी शरीरी प्रेम-पात्र के ही सम्बन्ध में अधिक उपयुक्त हो सकता था। इसी कारण सगुण वादी वैष्णव-भक्तों ने इसे अपने भक्तिभाव का एक महत्वपूर्ण

अंग बना लिया और वे इसके द्वारा मधुर रस तक का वर्णन करने लगे।

बङ्गाल-प्रान्त के बाउल फ़कीर सूफ़ियों से बहुत-कुछ मिलते हैं और कुछ लोग तो उन्हें इन्हीं में कभी-कभी गिन भी लिया करते हैं। ये बाउल प्रेम की पीर के अनन्य साधक रहे और अपनी धुन की मस्ती में सन्तों से भी बहुत मिलते-जुलते थे। इनके मत का सर्वप्रथम प्रचार कब से होने लगा यह तो विदित नहीं, किन्तु इतना निश्चित-सा है, कि ये विक्रम की १५ वीं १६ वीं शताब्दी से दीख पड़ने लगे थे। ये अपने हृदय को पवित्र मन्दिर-जैसा महत्त्व देते थे और उसमें अपते इष्टदेव 'मनेर मानुष' को नित्य प्रतिष्ठित देखना चाहते थे। "मानव-शरीर को मन्दिर का महत्त्व देने तक तो कोई नवीन बात नहीं क्योंकि बौद्ध सिद्धों से लेकर वैष्णव सहजिया तथा उत्तरी भारतीय निर्गुनिया सन्तों तक ने ऐसा बार बार किया है।" "परन्तु बाउलों की वास्तविक विशेषता उनकी मनेर मानुष विषयक धारणा में है। यह 'मानुष' वह ईश्वरीय मानव है जो, उनके अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति के अन्तस्तल में प्रतिष्ठित है, किन्तु उसे इसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो पाती। यह उसके सर्वोत्कृष्ट आदर्श का प्रतीक है, अनुपम सौन्दर्य की राशि है और उसके प्रेम का सहज एवं सर्व प्रमुख आधार भी है।"[1] उसके विषय में आतुर हो कर एक बाउल भक्त कहता है। "अरे उस अपने मनेर मानुष को कहाँ पाऊँ, उस खो गए हुए को उपलब्ध करने के उद्देश्य से मैं देश विदेश भटकता फिरता हूँ।"[2] बाउलों के कोई गुरु नहीं वह अपनी हृत्तन्त्री के तारों के प्रत्येक खिंचाव को जो उसके अश्रु-कणों का कारण बनता है अपने गुरु से कम नहीं मानता। अतएव, इनकी प्रेम-साधना का रूप कुछ विलक्षण ढङ्ग का है और यह सन्तों की प्रेम-साधना से कुछ अंशों में मिलता-जुलता भी

---

१ परशुराम चतुर्वेदी : "मध्यकालीन प्रेम-साधना" (साहित्य-भवन, लिमिटेड इलाहाबाद, सन् १९५२ ई०) पृ० ४१ ।

२ "को भाय पाबतारे, आमार मनेर मानुष मेरे। हाराये सेई मानुषे तार उद्देशे देश विदेश बेड़ाई घूरे॥"—'हारामणी' (आशीर्वाद) पृ० १ पर उद्धृत।

दीख पड़ता है। सन्त अपने निर्गुण एवं निराकार प्रियतम का साक्षात अनुभव स्वभावतः नहीं कर सकते, किन्तु भावयोग द्वारा उसके अपरोक्ष अनुभव का आनन्द अवश्य ले सकते हैं तथा इसमें सफल होना ही उक्त साधना की अंतिम परिणिति है। उन्हें बाउलों के 'मनेर मानुष'—जैसे किसी आदर्श मानव-तत्त्व की उपलब्धि के लिए प्रयत्न-शील नहीं होना है। वे अपने प्रियतम को एक अनिर्वचनीय रूप देना चाहते हैं और उसके मिलन को स्वानुभूति के रूप में उपलब्ध कर, अपने जीवन में पूरी काया पलट ला देना चाहते हैं। बाउलों के आदर्श मानवतत्त्व में उसके इस प्रकार कार्यान्वित होने की ओर कोई संकेत नहीं पाया जाता। अतएव, इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि बाउलों की प्रेम-साधना, जहाँ स्वयं साध्य प्रतीत होती है, वहाँ सन्तों के लिए वह केवल प्रमुख साधन का ही काम करती है। इन बाउलों द्वारा सन्त-साहित्य के रचयिताओं का प्रत्यक्ष रूप में प्रभावित होना अभी तक सिद्ध नहीं किया जा सका।

पश्चिमी भारत के प्रान्तों में से गुजरात एवं काठियावाड़ में पहले बौद्ध एवं शैव-धर्मों का ही पता चलता है और इन दोनों में से भी शैव-धर्म बौद्ध-धर्म को वहाँ से हटाने की चेष्टा में ही लगा दिखलाई देता है। "वास्तव में वैष्णव-धर्म का इतिहास, गुजरात में शैव-धर्म के प्रभाव को वहाँ से दूर करने का ही इतिहास है और पहला दूसरे का स्वाभाविक परिणाम भी है, जिस बात को हम उसके प्रारंभिक समय से ही सिद्ध कर दे सकते हैं। कहा जा सकता है कि शैव-धर्म ने ही पहले बौद्ध-धर्म एवं जैन-धर्म के विरुद्ध अपना झंडा उठाया था। किन्तु वैष्णव-धर्म ने शैव-धर्म के विरुद्ध ऐसा बहुत कम किया; क्योंकि गुजरात का पिछला शैव-धर्म वस्तुतः प्राचीन ब्राह्मण-धर्म पर ही आश्रित नहीं रह गया था।[१]" यह बहुत कुछ परिमार्जित हो गया था और वैष्णव-धर्म ने उसके यहाँ से बहुत-सी बातें जो सामाजिक,

१ Dr. N. A. Thoothi : The Vaishnavas of Gujrat (Longmans 1935) p. 352-3.

आर्थिक तथा धार्मिक भी थीं, अपने उत्तराधिकार में ग्रहण करलीं। वैष्णव-धर्म का यहाँ पर गुप्तकाल के पहले स्पष्ट रूप में प्रचलित रहना प्रमाणित नहीं होता। इसका जब से यहाँ प्रवेश हुआ और फिर दृढ़ मूल भी होने लगा, यह बराबर सर्वसाधारण का धर्म बन कर ही रहने के लिए प्रयत्न-शील था और विशेषकर इसी दृष्टि से इसे शैव-धर्म का प्रतियोगी भी कहते हैं। यह संयोगवश यहाँ के व्यवहार-कुशल व्यक्तियों के ही समाज में अपना विस्तार क्षेत्र भी पा सका, जिस कारण न तो इसमें उतनी दार्शनिकता आ पाई और न वैसी शास्त्रीयता का ही समावेश हो पाया, जैसा महाराष्ट्र-प्रान्त में दीख पड़ा था।

काश्मीर के धार्मिक इतिहास में भी, सर्वप्रथम, हम शैव-धर्म एवं बौद्ध-धर्म का ही संघर्ष पाते हैं, किन्तु वहाँ पर समन्वय की प्रवृत्ति अधिक सचेष्ट है और बहुत दिनों तक लोग वहाँ किसी-न-किसी प्रकार के एक बहुदेववाद को भी स्वीकार करते जान पड़ते हैं। फिर क्रमशः 'वहाँ एक ऐसा मत प्रकट होने लगता है जो न तो विशुद्ध बौद्ध-धर्म है और न शैव-धर्म ही, प्रत्युत इन दोनों का एक अविरोधी व समजातीय सम्मिश्रण है और उसमें एक ओर जहाँ एक की चिन्तनशीलता और दार्शनिकता रहती है, वहाँ दूसरी ओर दूसरे की आचार-पद्धति भी प्रवेश कर जाती है और इस प्रकार, वहाँ का क्षेत्र उस तान्त्रिक शैव-धर्म के लिए पूर्ण रूप से तैयार हो जाता है जो पीछे शास्त्रीय आधार लेकर भी प्रस्तुत होता है।'[1] वैष्णव-धर्म को वहाँ हम उसके विरोध में अथवा सहयोग में भी काम करते हुए नहीं पाते, जिससे शैव धर्म ही प्रधान बना रह जाता है। ईस्वी शताब्दी के दसवें-ग्यारहवें क्रम तक हम वहाँ पर अभिनव गुप्त के शैव मत के प्रचार का आरम्भ होना देखते हैं और उसके तेरहवें-चौदहवें से वहाँ पर एक साहित्यिक

---

१ Dr. K. C. Pandey "Abhinava Gupta, An Historical and Philosophical Study" (Chowkhamba Sanskrit Series, Volume I, 1935), p. 87 ।

पुनर्जागृति का युग आता है और संस्कृत के क्रमशः प्रभावहीन पड़ने तथा स्थानीय भाषा-साहित्य के विकास पाने का भी समय आ जाता है, जिसमें वहाँ के निवासियों को फ़ारसी-साहित्य का भी सहयोग प्राप्त होता है। ऐसे ही युग में वहाँ लालदेद व लल्लेश्वरी का आविर्भाव होता है, जिसके विषय में डा० ग्रियर्सन का कहना है कि उसकी बहुत-सी महत्वपूर्ण बातों द्वारा सन्त कबीर साहब भी प्रभावित हैं। लालदेद कश्मीर के त्रिक शैव-दर्शन की अनुगामिनी थी और वह एक पहुँची हुई साधिका भी थी। उसकी रचनाओं में जिस 'शैव योग' की ओर किये गए संकेत मिलते हैं, उसमें किसी प्रकार की सांप्रदायिकता नहीं है, प्रत्युत सारी बातें जनता की बोधगम्य शैली में कही गई हैं। वह अपने इष्टदेव को शिव कहती हुई भी उसे केशव, जिन अथवा नाम से अभिन्न मानती है। मूर्ति-पूजा करने वालों से उसका कहना है 'वही पत्थर सड़क में है, वही चौखट में है, वही मन्दिर में है और वही चक्की में भी है; शिव का पाना असंभव है, जब तक तुम गुरु से संकेत नहीं ले लेते।'[१]

संत जयदेव का आविर्भाव-काल विक्रम की तेरहवीं शताब्दी का युग बतलाया जाता है, जिसके अनुसार काश्मीर की लालदेद का समय उनसे लगभग दो शताब्दी पीछे का समझा जा सकता है और उसका अपना मूल धर्म भी वैष्णव न होकर शैव था। परन्तु उसकी रचनाओं के संग्रह 'लल्ले-श्वरी वाक्यानि' के अध्ययन से पता चलता है कि उसकी वास्तविक विचार-धारा को हम सन्तमत से अधिक दूर नहीं रख सकते। इसमें वही आध्यात्मिक प्रेरणा है, वही व्यापक दृष्टिकोण है और वही विचार-स्वातन्त्र्य प्रसूत वर्णन-शैली भी है। लालदेद का जन्म उस समय हुआ होगा, जब सन्त नामदेव की पंजाब-प्रान्त वाली प्रचार यात्रा समाप्त हो चुकी थी और उनका देहावसान तक हो चुका था। इसलिए यह संभव है कि उसे इधर के

---

१ Dr. Kannudi : "Kashmir : its cultural heritage" (Bombay 1952), quoted at p. 57.

उपदेशों से भी कुछ प्रेरणा मिली हो और उसमें अपनी भावाभिव्यक्ति के लिए उन्हें अपना आदर्श भी बना लिया हो। परन्तु उससे भी अधिक संभावना इस बात की ही हो सकती है कि वह दो तीन सौ वर्षों का युग ही ऐसी विचार-धारा के लिए सर्वथा अनुकूल था। उत्तर-प्रदेश के सन्त कबीर साहब के लिए भी यही कहा जा सकता है कि उन्हें भी अपने समय के वातावरण से बहुत कुछ प्रेरणा मिली होगी। उनकी काशी एक ऐसा केन्द्र-स्थान बनी रहती आई है जहाँ प्रायः सारे भारत के धार्मिक महापुरुष कभी-न-कभी आ जाते रहे हैं। न केवल शैव तथा वैष्णव धर्म के ही आचार्य अपितु नाथ-पन्थी तथा अन्य बहुत-से सुधारवादी प्रचारक भी यहाँ की यात्रा को महत्व देते रहे। बुद्ध ने इसी के निकटवर्ती ऋषिपत्तन व सारनाथ में अपने उपदेशों का सर्वप्रथम आरम्भ किया था और दक्षिण के प्रमुख धर्माचार्यों ने भी अपनी प्रचार-यात्रा करते समय, यहाँ पर एक बार आ जाना अपना कर्तव्य-सा माना। इस कारण 'पुरी' की भाँति यहाँ पर भी भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बियों का, आपस में, अपने-अपने विचारों का आदान-प्रदान करना बराबर सम्भव रहा और यह नगर, शैव धर्म के सर्वप्रमुख तीर्थ-स्थानों में से एक होता हुआ भी, कभी धार्मिक संकीर्णता का अखाड़ा न बन सका। हिन्दू-धर्म की दृष्टि से यहाँ के निवासियों के सम्बन्ध में आज भी कहा जा सकता है कि अधिकतर वे उसके स्मार्त-धर्म वाले ही अंग के अनुयायी हैं!

उत्तर-प्रदेश पौराणिक वातावरण का भी एक प्रमुख क्षेत्र रहता आया है और इसे राम एवं कृष्ण की जन्मभूमि होने का गौरव भी प्राप्त है। किन्तु इसके पूर्व की ओर जहाँ बुद्ध एवं महावीर-जैसे क्रान्तिकारी विचार वालों का कर्मक्षेत्र रहा, वहाँ पश्चिम की ओर इस्लाम-धर्म के प्रसिद्ध सूफ़ी सम्प्रदाय वाले भी बराबर अपने मत-प्रचार में लगे रहे और, इस प्रकार यहाँ विचारों में सन्तुलन रखने की ही प्रवृत्ति सदा जगी रह गई। जिस समय से बौद्धों के शून्यवाद से प्रतीत होने वाले अद्वैतवाद का प्रचार आरम्भ हुआ और स्वा० शंकराचार्य के प्रयत्नों द्वारा उसकी लोकप्रियता बढ़ने लगी, तब से दार्शनिक एवं धार्मिक विचार-धाराओं में एक बहुत बड़ी क्रान्ति आ

गई और द्वैतवादी अथवा अद्वैतवादी तक के सिद्धान्त वालों ने भी अपने-अपने मतों को उसके साथ सामंजस्य में लाना उचित समझा। जिन धर्माचार्यों का उद्देश्य भक्तिसाधना का प्रचार करना रहा और जो इसी कारण, अपने इष्टदेव को अपने से पृथक् मानने के लिए स्वभावतः बाध्य भी कहे जा सकते थे, उनके भी दृष्टिकोणों में न्यूनाधिक परिवर्तन आ गया। अद्वैतवाद की तुलना में विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैती, शुद्धाद्वैत एवं भेदाभेद-जैसे मतों का प्रवर्तन होना तथा उनका अद्वैतवाद की कई बातों को अपने यहाँ भी पचा लेने का प्रयत्न करना, इसका एक ज्वलन्त प्रमाण है। अद्वैतवाद को इस समय उन योगसाधकों द्वारा भी बहुत बड़ी सहायता मिली जो नाथ-पन्थी 'जोगियों के अनुयायी थे। सन्त-साहित्य की रचना आरम्भ करने के समय तक अद्वैतवाद, भक्तिसाधना एवं योगसाधना इन तीनों में सजातीयता के भाव का बढ़ता जाना सरल हो गया था और तदनुसार कुछ लोगों ने इस दृष्टि से लिखना-पढ़ना भी स्वीकार कर लिया था। सन्त जयदेव और संत वेणी अथवा साधना की रचनाओं में तो हमें इसके उतने स्पष्ट संकेत नहीं मिलते, किन्तु संत नामदेव तथा लालदेद तक ये बातें अवश्य निखर आती हैं।

कबीर साहब के ठीक पहले, और उनके सम-सामयिक के रूप में भी, स्वा० रामानन्द इस प्रकार के वातावरण से पूर्ण प्रभावित जान पड़ते हैं। इनके गुरु समझे जानेवाले स्वा० राघवानन्द की रचना 'सिद्धान्त पंच-मात्रा' के देखने से पता चलता है कि उसमें मन्त्र है, योग है, वैष्णव-मत है, अवधूतों की रहने कि चर्चा है और इन सभी के साथ कतिपय 'भेष' एवं तन्त्राचार की बातों का भी समावेश है। स्वा० रामानन्द की उपलब्ध रचनाओं में भी इसी प्रकार की विविध बातों का एक विचित्र सुन्दर संमिश्रण पाते हैं। इनके 'आदिग्रन्थ' में संगृहीत रचना "कतजाइऔ रे घर लागो रंग"[1] आदि से तो स्पष्ट हो ही जाता है कि इनकी विचार-धारा किस

---

१ 'आदि ग्रन्थ' रागुवसंत

प्रकार कि रही होगी, इनके, इधर के प्रकाशित छोटे-बड़े पदों[1] में लक्षित होनेवाली, प्रवृत्ति को देखने से इस बात में सन्देह नहीं रह जाता कि वे अपने समय तक विकसित होते गए सन्त-मत के एक प्रमुख प्रचारक थे और कबीर साहब के उन्हें गुरु बतलाने वालों को इस बात के पूरा बल भी मिल जाता है। स्वा० राघवानन्द की पुस्तिका 'सिद्धान्त पञ्चमात्रा' बहुत-ही छोटी रचना है, और जहाँ तक उसका अंश प्रकाशित हो चुका है[2] उससे भी इस मत की परम्परा की पुष्टि होती है। कबीर साहब के समकालीन सेन, रैदास एवं पीपा-जैसे सन्तों के उपलब्ध-पद भी इसी बात का समर्थन करते हैं कि वह युग इसके कितना अनुकूल रहा होगा। स्वा० रामानन्द एवं कबीर साहब के प्रभावशाली व्यक्तित्व ने उनके कार्य-क्षेत्र को भी पूरा महत्त्व दे दिया और यह महान् केन्द्र बन गया। दक्षिण के नीमाड़-प्रान्त से ले कर पश्चिम के काठियावाड़ तथा उत्तर के काश्मीर एवं पूर्व के बङ्गाल तक इसकी परिधि के भीतर आ गए।

सन्त-साहित्य के रचयिताओं को जो धार्मिक प्रेरणाएँ सदा मिलती आईं, उनमें, समाज के भीतर कार्य करते हुए, नैतिक आचरण को सन्तुलित और सुव्यवस्थित रूप देने की परम्परा को भी एक बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए। नैतिक आचरण को हिन्दू-धर्म-शास्त्रियों ने सदा धर्माचरण के रूप में स्वीकार किया है और 'धर्म' शब्द के अर्थ को ही बहुत व्यापक बना दिया है। 'आचार-प्रभवो धर्मः' यहाँ कभी-कभी सुनने में अवश्य आता है, किन्तु 'धारणाद्धर्म इत्याहुः' को ही महत्त्व देने की ओर अधिक प्रवृत्ति है। वास्तव में, जैसा एक चिन्तनशील भारतीय ने ही कहा है, "हिन्दुओं की प्रवृत्ति जहाँ नैतिक बातों को धर्म के रूप में ग्रहण करने का भ्रम कर बैठती है, वहाँ आधुनिक ईसाई लेखकों के दृष्टिकोण में इससे ठीक विपरीत बात देखी जाती है और वे धर्म को ही नैतिक सीमा के बाहर न जाने देना

---

१ 'रामानन्द की हिन्दी रचनाएँ (ना० प्र० सभा काशी—सं० २०१२)

२ 'योग प्रवाह' (काशी विद्यापीठ, बनारस, २००३) पृ० १८।२२।

चाहते हैं।[1] 'मनुस्मृति' के रचयिता ने अपने ग्रन्थ में वेदों को 'अखिल-धर्म' का मूल-स्रोत माना है और वे उनके अनुसरण को महत्व भी देते हैं। किन्तु फिर भी उन्होंने प्रसंगवश 'युग-धर्म' की भी चर्चा की है।[2] जिससे पता चलता है कि धर्म के रूप में यथा-साध्य परिवर्त्तन भी हो सकते हैं, तथ्य तो यह है कि 'यजुर्वेद' में प्रधानतः यज्ञों के अनुष्ठान का विधान है, 'ऋग्वेद' में देवों के प्रति स्तुतिगान को महत्व दिया गया है और 'सामवेद' में विशेष कर ऐसे मन्त्र ही संगृहीत हैं जो यज्ञादि के अवसर पर गाने योग्य हैं। उपनिषदों में भी गूढ़ दार्शनिक विवेचन की ही प्रचुरता जान पड़ती है और इनमें केवल 'तैत्तिरीय'-जैसी ही एकाध मिलेगी, जिनका नैतिकता से भी सम्बन्ध हो।'[3] इन बातों का पर्याप्त विवेचन कतिपय सूत्रों, स्मृति-ग्रन्थों, पुराणों तथा महाभारतादि में ही पाया जाता है। इनमें धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का प्रायः परिचय दिया गया पाया जाता है और फिर नैतिक आदर्शों की व्याख्या रहती है।

परन्तु इन चारों में से केवल काम और मोक्ष ही ऐसे हैं, जिन्हें हम सचमुच मानव जीवन का लक्ष्य मान सकते हैं; धर्म एवं अर्थ तो इन दोनों के साधन स्वरूप हैं और इनमें से धर्म का सम्बन्ध मोक्ष से है और अर्थ का काम से। 'काम' एवं 'मोक्ष' दोनों किन्हीं सुखमयी दशाओं की ओर संकेत करते हैं और प्रत्येक मानव के जीवन का उद्देश्य भी सदा सुख का प्राप्त करना ही रहता है। परन्तु काम जहाँ प्रायः सांसारिक वा समाज में रह कर

---

१ As there is a tendency on the part of the Hindus to confound morals with religion, the opposite tendency of modern christian writers is to confound religion with morals"—Evolution of Hindu morals Ideals' (by Sri P. S. Sainivasan Iyer, Calcutta University' 1935) p. XIV ।

२ 'मनुस्मृति, (२।६) और (१।८५)।

३ "Evolution of Hindu moral Ideals" pp. 19-20 ।

उपलब्ध किये जाने योग्य सुख का बोधक है, वहाँ मोक्ष उस किसी अनिर्वचनीय और असीम आनन्द की ओर संकेत करता है, जिसकी उपलब्धि की संभावना, बहुधा यहाँ इस जीवन में नहीं समझी जाती। काम की परिभाषा बतलाते हुए 'महाभारत' में कहा गया है 'पंचेन्द्रिय, मन एवं हृदय के विषय में लगे रहने पर जो उन्हें तद्विषयक प्रीति उत्पन्न होती है, उसी का नाम 'काम' है और वह कर्मों का उत्तम परिणाम-स्वरूप है।'[1] जिससे स्पष्ट है कि उसका सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से ही है। परन्तु मोक्ष के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि वह काम की भाँति सीमित न होकर असीमित और अपरिमित आनन्द की ओर निर्देश करता है। इसलिए कहा जा सकता है कि वह किसी अन्य 'लोक' के जीवन में उपलभ्य है, जहाँ जैसे यहाँ बाह्य पदार्थों से कोई काम नहीं रहा करता। बहुत-से विदेशी ईसाई विद्वानों ने इसी आधार पर यह आक्षेप भी किया है कि यहाँ की नैतिकता में परलोक की गङ्गा अधिक है और इहलोक के सम्बन्ध में एक ऐसी निराशावादिता भी है जो हमें किसी प्रकार की उन्नति वा विकास में बाधा पहुँचा सकती है।

परन्तु भारतीय वा हिन्दू नैतिकता की यह कोई विशेषता नहीं रही है और ऐसी अनेक बातें ईसाई धर्म में भी दीख पड़ती हैं। इसके सिवाय यहीं के प्रसिद्ध तमिल ग्रन्थ 'कुरल' के देखने से यह भी पता चलता है कि मोक्ष को नीति के क्षेत्र में सदा महत्त्व भी नहीं मिलता रहा है। 'कुरल' अपने महत्त्व के कारण 'तमिल वेद' के नाम से भी प्रसिद्ध है और यह दक्षिण भारत के लिए सर्वमान्य नीति-ग्रन्थ बना रहता आया है। इस पुस्तक की रचना उस समय हुई होगी, जब साम्प्रदायिकता का प्रचार नहीं था और न 'धर्म' एवं 'काम' के अर्थ में कोई संकीर्णता ही आ पाई थी। 'कुरल' वा 'त्रिक्कुरल' के रचयिता ने इस नीति-ग्रन्थ में केवल तीन भाग किए हैं;

---

१ 'इन्द्रियाणां च पञ्चानां मनसो हृदयस्य च।
विषए वर्तमानानां या प्रीति रुपजायते॥
स काम इति मे बुद्धि: कर्मणां फलमुत्तमम्।'' (वनपर्व, ३३।३७-८)

जिनके शीर्षक-धर्म, अर्थ एवं काम कहे जा सकते हैं। तमिल भाषा में इन्हें क्रमशः 'अड्म्', 'पोरुल' एवं 'इनवम्' कहा गया है और इनके साथ चौथे पुरुषार्थ 'मोक्ष' को कोई स्थान नहीं दिया गया है। इसके 'अड्म्' अथवा धर्म वाले प्रकरण में जो भक्ति विषयक चर्चा है, उसमें न तो वैसी परलोक वादिता है और न किसी देव विशेष के ही प्रति लक्ष्य है। मुमुक्षुओं के विषय में कहा गया है--"मुमुक्षुओं में श्रेष्ठ वे लोग हैं जो धर्मानुकूल गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते हैं।[1]" उसमें सदाचार के विषय में भी कहा गया है—"अपने आचारण की खूब देख रेख रखो, क्योंकि तुम जहाँ चाहो खोजो, सदाचार से बढ़कर पक्का दोस्त कहीं नहीं है[2]।" तिरुवल्लुवर अर्थात् 'कुरल' के रचयिताने धर्म-सम्बन्धी अधिकांश बातें प्राचीन हिन्दू साहित्य से ग्रहण की है, किन्तु उनमें मौलिकता भी आ गई है। पोरुल वा अर्थ-संबंधी उक्तियों में राजनीति की प्रधानता है और दूसरे 'इनवम' वा काम के शीर्षक में विशेषतः पारिवारिक बातें आई हैं। 'कुरल' के पढ़ते समय हमारा ध्यान इहलौकिक प्रश्नों से कभी दूर जाता हुआ नहीं जान पड़ता और इसी में उसकी व्यावहारिकता है।

परन्तु नैतिक बातों अथवा नीति-धर्म पर विचार करते समय संतों ने उक्त प्रकार से उसे पुरुषार्थानुसार विभाजित करना स्वीकार नहीं किया है। उन्होंने नीति-धर्म को कहीं अलग स्थान न देकर उसकी चर्चा अन्य बातों के ही साथ करदी है। संतों की धारणा के अनुसार मानव-जीवन के अन्तर्गत किसी प्रकार के वर्गीकरण वा विभाजन का प्रयत्न करना उचित वा युक्ति-संगीत नहीं कहा जा सकता। उनके सामने प्रश्न यह नहीं है कि अमुक समय धर्म-सम्बन्ध आचरण किया जाय और फिर इसी प्रकार, दूसरे समय अर्थ को हाथ में लिया जाय, उनका स्पष्ट ध्येय एक पूर्ण, प्रत्युत सर्वांग पूर्ण,

---

१ 'तामिल वेद' (अनु० क्षेमानन्द 'राहत', सस्ती साहित्य माला, अजमेर, १६२७ पृ० ७८।

२ वही, पृ० ९५।

जीवन को विकसित और व्यतीत करना है, जिसमें एक साथ सभी बातें आ जाती हैं। इसी लिए उन्होंने अपने यहाँ व्यावहारिकता पर पूरी दृष्टि रखते हुए भी, मोक्ष के विचार का परित्याग नहीं किया। मोक्ष वा मुक्ति का उनके यहाँ ऐसा कोई अर्थ ही नहीं, जिससे उसमें पारलौकिकता वा अव्यावहारिकता का दोष आ सके। मोक्ष के लिए, उनकी दृष्टि से न तो किसी 'अन्यलोक' की अपेक्षा करना आवश्यक है और न यही मानना है कि वैसा, हमारे मरने पर ही संभव है। वे इस बात पर बार-बार बल देते रहते हैं कि मोक्ष वस्तुतः हमारे ऐहिक जीवन का ही किसी एक विशिष्ट रूप में परिणत हो जाना है। वह कोई अनहोनी बात नहीं। संत-लोग धर्म एवं अर्थ में कोई मौलिक अन्तर देखना नहीं चाहते और इसी लिए उनके यहाँ मोक्ष एवं काम में भी कोई तात्त्विक भेद नहीं है, उनके अनुसार, यदि हमारे जीवन में काया पलट हो गया और हम सारे प्रश्नों को, अपने नवीन आध्यात्मिक जीवन की दृष्टि से, देखने लग गए तो, धर्म एवं अर्थ का अन्तर, हमारे लिए, आपसे-आप मिट जायगा।

हिन्दुओं के धार्मिक समाज में नीतिधर्म का एक अन्य अर्थ भी लगाने की परम्परा है, जिसको सन्तों ने कभी पसन्द नहीं किया। इस जन-समूह की मनोवृत्ति किसी धार्मिक वा नैतिक कार्य को, बहुधा अपने व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से, करने की रही है। हम यदि कोई यज्ञ करते हैं अथवा स्तुति-गान करते हैं तो अधिकतर इस उद्देश्य से कि हमें अमुक प्रकार का लाभ हो। दूसरे शब्दों में हम ऐसे कार्यों द्वारा किन्हीं देवताओं को प्रसन्न करना चाहते हैं, जिनसे वे हमारे सुखमय जीवन का प्रबन्ध कर दें। 'श्रीमद्भगवद्गीता में इस प्रवृत्ति की ओर स्पष्ट संकेत किया गया मिलता है,[१] किन्तु उस ग्रन्थ में इसे निरुत्साहित भी किया गया है तथा अपने किए सुकर्मों के फल पर ही ध्यान

---

१ "देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तुव।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथा ॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।" (गीता ३।११।२)।

न दे कर, सदा अनासक्त-भाव से काम करते रहने का उपदेश दिया गया है।[1] इसके लिए वहाँ यह भी बतलाया गया है कि हम जो कुछ भी करें उसे भगवदर्पित समझ कर अथवा अपने को भगवान् का एक साधन मात्र मान कर करें।[2] इसके सिवाय यहाँ के समाज में एक और भी ऐसी बात दीख पड़ती है, जिसके कारण हमारे नैतिक दृष्टिकोण का क्षेत्र कुछ संकुचित हो जाता है। हिन्दु-समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों में, उनके वर्णाश्रमानुसार विभाजित हो जाने के कारण, नैतिक एवं अनैतिक बातों के मूल्यांकन के लिए हमारे यहाँ अनेक प्रकार के मापदण्डों की सृष्टि हो गई है, जिसका प्रभाव बिना पड़े नहीं रह सकता। इसके कारण हमारे साधारण वा सामान्य नैतिक विवेचन की पद्धति में, केवल रूढ़िगत और संकीर्ण व्यवस्थाओं के भी आधार पर प्रायः महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन करने पड़ जाते हैं और अपना वास्तविक उच्च ध्येय हमारे सामने नहीं रहने पाता। कभी-कभी तो ऐसा, किसी कर्त्तव्य-विशेष के ऊपर उचित अनुपात से अधिक बल देने के कारण भी, हो जाया करता है और हम वहाँ धर्म-धर्म के विवेचन में संतुलित दृष्टिकोण नहीं रख पाते।

इस दूसरे प्रश्न पर विचार करते समय एक विदेशी लेखक ने प्रसंगवश दो सुन्दर दृष्टान्त उपस्थित किए हैं। एक के अनुसार किसी धनी व्यक्ति ने गंगाजी को १००० आम चढ़ा कर भेंट किए, जिन्हें उसने उनके प्रवाह में फेंक दिया। उन फलों में से कोई एक किसी निर्धन व्यक्ति को मिल गया। जिसने उसे खा कर अपनी भूख मिटाई। उसी रात को उसे गङ्गाजी ने स्वप्न दिया कि मुझे तुम्हारा दिया हुआ केवल एक ही आम का फल मिला है, जिसे क्षुधातुर व्यक्ति ने उठा कर खा लिया था। दूसरे दृष्टांत के रूप में

---

१ "तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥" (वही ३।१९)

२ "मत्करोषि यदश्नासि मज्जुहोषि ददासियत्।
मनूपस्यासि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥" (वही २७।८।२७)।

प्रसिद्ध भक्त अजामिल की कथा दी गई है जो अपने सारे जीवन-भर तो निरे अनैतिक कर्म करता रहा किन्तु अन्त में जब मरते समय, उसे मृत्यु का भय लगा और उसने अपनी रक्षा के लिए अपने पुत्र नारायण को पुकारा तो केवल नाम-साम्य के कारण उसके निकट स्वयं विष्णु भगवान् की सहायता आ पहुँची और उसे स्वर्ग मिल गया।[1] इन दोनों दृष्टांतों में से पहले द्वारा स्पष्ट किया गया है कि किसी वैसे दानशील व्यक्ति का ध्यान जितना उसके द्वारा परलोक में लाभ उठाने की ओर रहा करता है, उतना उसके आधार पर किसी को यहीं लाभ पहुँचा कर, अपने नैतिक कार्य का फल देखने की ओर नहीं जाया करता, यद्यपि सामान्य नैतिकता की दृष्टि से, उसका इस दूसरे ढंग से ही सोच कर काम करना उचित कहा जा सकता है। इसी प्रकार उक्त दूसरे दृष्टांत द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि भगवन्नामस्मरण-जैसी सांप्रदायिक साधनाओं को उचित अनुपात से अधिक महत्त्व देने से, ऐसे नैतिक कर्मों के प्रति जो मानव-समाज के नाते आवश्यक कर्त्तव्य कहे जा सकते हैं, कोई प्रोत्साहन नहीं रह जाता। अपने जीवन-भर मन-माने अनाचार करने वाला यदि एक बार अनजाने भी भगवन्नाम ले कर तर जा सकता है तो कौन ऐसा मूर्ख है जो जीवन-भर नैतिक-धर्म में ही प्रवृत्ति रखना चाहेगा। उसके लिए तो मार्ग प्रशस्त है कि वह जान-बूझ कर एक बार नामस्मरण करले और मुक्त हो जाए।

सन्तों ने अपनी रचनाओं के अन्तर्गत प्रसंगवश ऐसे प्रश्नों की ओर भी संकेत किया है और इस पर अपना मत भी दिया है। सन्त-साहित्य में रूढिगत परम्पराओं के पालन अथवा किसी धार्मिक व्यवस्था के अंधानुसरण को सर्वत्र हेय ठहराया गया है। इसकी सब कहीं, कड़ी आलोचना की गई है और ऐसे अवसरों पर सदा नीरक्षीर विवेकी हंसवत् अपने विवेक से काम लेने का परामर्श दिया गया है। सन्त कबीर साहब ने तो यहाँ तक कह दिया

---

१ L. S. S. O' Malley : 'Popular Hinduism' (Cambridges 1935) P. 71.

है कि "वेदों अथवा कोशनादि धर्म-ग्रन्थों को कभी झूठा न कहो, झूठा वह है जो उनकी बातों पर स्वयं भी विचार नहीं कर लेता और उनका अक्षरशः पालन करने लग जाता है।[२]" इसी प्रकार कर्मवाद के ऊपर विशेष बल देते समय उन्होंने इस बात की ओर सदा ध्यान रखा है कि न केवल किसी कर्म के करने तथा उसके अनुरूप फल के प्राप्त करने पर ही आस्था रखी जाए, प्रत्युत अपनी कथनी एवं करनी तक में सामंजस्य लाने का प्रयत्न किया जाए तथा उचित 'गहनी' एवं 'रहनी' को अपना लक्ष्य भी बनाया जाए। इस प्रवृत्ति के लिए उन्हें विशेष प्रेरणा संभवतः श्रमण-परम्परा से मिली होगी, जिससे सम्बन्धित बौद्ध और जैन-धर्मों ने व्यक्तिगत सुधार एवं पवित्र जीवन को पूरा महत्त्व दिया है तथा वस्तुतः इसी के आधार पर समाज के कल्याण की भी कल्पना की है। स्वानुभूति, आत्मनिर्भरता सदाचरण तथा विश्व-कल्याण की भावनाएँ उनके यहाँ आ कर अधिक स्पष्ट, आकर्षक तथा विश्वसनीय बन गई हैं और, उनके माध्यम से इन्हें अपना कर, अनेक महापुरुषों ने बड़े सुन्दर उपदेश दिए हैं।

अतएव, धार्मिक दृष्टि से, हम सन्त-साहित्य को वैष्णवों के ही साहित्य में गिन सकते हैं, किन्तु ऐसा करते समय हमें इस बात का भी ध्यान रखना पड़ेगा कि इसे हम उसके उस अंश में न सम्मिलित करलें जो ठेठ सांप्रदायिक कहा जा सकता है। वैसे साहित्य को पृथक् कर लेने पर भी हमें इसमें ऐसी विशेषताएँ दीख पड़ेंगी, जिनके कारण हम इसको दूसरों के साथ नहीं रखना चाहेंगे और ये बातें इसकी विचारधारा एवं साधना दोनों से ही सम्बन्ध रखती हैं। सन्त-साहित्य के राम वे नहीं हैं जो शिव अथवा अन्य किसी देवता से पृथक् अस्तित्व रखते हों अथवा ऐसे देवताओं के प्रभुस्वरूप भी हों। वे वह अनिर्वचनीय परमतत्त्व हैं जो सभी-कुछ हैं और

---

२ 'वेद कहेव कहहु मन झूठा,
झूठा जो न विचारी'

आदि-ग्रन्थ 'रागुविभास' पृ. सं ४

जिससे स्वयं साधक भी तत्त्वतः अभिन्न है। इस कारण ऐसे इष्टदेव के अन्तर्गत किसी भी धर्म वा संप्रदाय का उपास्यदेव, स्वभावतः, आ सकता है और उसके प्राप्त करने के लिए कोई भी साधना उपयुक्त हो सकती है। इसके लिए प्रयत्नशील होने वाले को स्वयं अपने-आपके सम्बन्ध में ही चिन्तन करना है और केवल स्वानुभूति द्वारा ही सफल हो जाना है। वैष्णव-धर्म, शैव-धर्म, स्मार्त्त-धर्म, शाक्त-धर्म इन सभी की किसी परमतत्व के प्रति आस्था है, किन्तु वे उस किसी व्यक्त रूप विशेष के माध्यम से देखना चाहते हैं और तदनुरूप ही कोई-न-कोई साधना भी करना चाहते हैं। सन्त लोग उनके साथ केवल पहले अंश तक ही सहमत होना चाहते हैं और दूसरे अंशवाली मान्यता द्वारा अपने को संबद्ध कर देना नहीं चाहते। इसके सिवाय सन्त, किसी ऐसी सांप्रदायिक साधना के नाम पर जगत् से पूर्णतः विमुख हो कर भी, रहना नहीं चाहते। उनकी रचनाओं के सम्यक् अध्ययन से प्रतीत होता है कि वैसी किसी भी साधना को वे केवल साधन रूप ही मानते हैं। वे उनमें उपलब्ध सिद्धि तक को इससे अधिक महत्त्व न दे कर किसी विशेष रूप के आध्यात्मिक जीवन को ही अपना आदर्श स्वीकार करते हैं और इस बात में वे उन लोगों तक से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ते जो बहुधा निरीश्वरवादी कह दिए जाते हैं। नीति-धर्म अथवा नैतिकता इन सभी की दृष्टियों में महत्व-पूर्ण हैं और सन्तों ने भी इसे अपने ढंग से उचित स्थान दिया है। सन्त-साहित्य की रचना का आरम्भ होने के समय तक वैष्णव-धर्म का बहुत-कुछ विकास हो चुका था और उस निर्माण-कार्य के विशाल क्षेत्र में इसे कहीं शैव-धर्म से, कहीं बौद्ध-धर्म से, कहीं नाथ-पन्थ से, कहीं सूफ़ी सम्प्रदाय से व कहीं जैन-धर्म से भी न्यूनाधिक प्रभावित होना पड़ा था। सन्त-मतों में उसके इन सभी परिमार्जित रूप का निचोड़ एक सुन्दर समन्वयात्मक रूप में दीख पड़ा और यही उसकी विलक्षणता भी थी। सन्त कबीर साहब के असाधारण व्यक्तित्व एवं प्रतिभा ने इस अनोखेपन में भी एक व्यवस्था लादी, जिससे यह स्वतन्त्र-सा दीखने लग गया।

उ. साहित्यिक

सन्त-साहित्य का प्रधान विषय या तो किसी सिद्धान्त का कथन है, आलोचना है अथवा उपदेश है। इसमें घटनाओं के वर्णन वा भौतिक वस्तुओं के विवरण अथवा चित्रण का प्रायः अभाव-सा है। अतएव, न तो यहाँ पर प्रबन्ध-काव्यों के ही अधिक उदाहरण मिलते हैं और न बड़े-बड़े वैसे काव्य-खण्ड ही पाए जाते हैं, जिनमें रूप-योजना के दीर्घ प्रयत्न किए गए हों। सन्त-साहित्य के रचयिताओं के लिए उसके निर्माण-कार्य का कोई महत्त्व-पूर्ण उद्देश्य भी नहीं है। वे न तो इसे किसी अपने मत का तर्क-संगत प्रति-पादन करने के लिए प्रस्तुत करते हैं और न उनका लक्ष्य इसके द्वारा काव्य-कौशल का प्रदर्शन ही करना है। इसमें उनके विचार-कथन एवं भावाभि-व्यक्ति का संचय-मात्र है और इसकी रचना उन्होंने या तो अपने सामने वर्त्तमान जनता को संबोधित करके उसके लिए सुझाव के रूप में की है अथवा कभी-कभी इसे अपने उमंग में कह डाला है। इसमें जितना अंश कथन वा गान का सम्मिलित है, उतना लेखनी-प्रसूत नहीं है और इसी कारण, इसमें रचना-शैली की उस आवश्यक सतर्कता का अभाव है, जिसके अनुसार, प्रत्येक शब्द एवं वाक्य का प्रयोग करते समय, संभल-संभल कर चलना पड़ता है और जो पूर्व निश्चित् नियमों की जानकारी की अपेक्षा भी किया करती है। इसके रचयिताओं का ध्यान जितना वर्ण्य विषय की ओर है, उतना इसकी रचनाशैली की ओर नहीं और यही इस साहित्य की एक प्रमुख विशेषता भी है।

सन्त-साहित्य के अधिकांश रचयिता केवल अशिक्षित अथवा अर्द्ध-शिक्षित व्यक्ति थे और इसी लिए, ऐसा अनुमान करना कि उनके सामने साहित्य-प्रकार के कोई ऐसे आदर्श रहे होंगे जो ग्रन्थबद्ध हों वा शास्त्रीय भी हो उचित न होगा। सन्त-लोग कम शिक्षित होने के साथ ही निम्नतर कोटि के समाज में प्रायः रहा भी करते थे। उन्हें अपनी बातें कहने के लिए शास्त्रों में निष्णात पंडितों अथवा प्रतिष्ठित पुरुषों के यहाँ पहुँचने का बहुत कम

अवसर मिला करता था। उन्हें, कदाचित्, कभी पंडितों की कथाओं वा उपदेशों के अवसरों पर श्रोता बन कर बैठने का संयोग भी नहीं मिलता था। वे अधिकतर सत्संगों के अभ्यासी रहा करते थे और अपनी निजी अनुभूति का प्रकाशन करने वाले सद्गुरुओं का अन्तेवासी बन कर उनकी रहनी का मनोयोग-पूर्वक निरीक्षण करना ही उनका वास्तविक ध्येय हो चुका रहता था। इसलिए जितना अधिक परिचय उन्हें वर्णन की समास-पद्धति वा सांकेतिक प्रणाली का हो सकता था, उतना शब्द के प्रचुर प्रयोग, वाक्य विस्तार अथवा भावाभिव्यक्ति के पल्लवन की समाहित चेष्टा से संभव न था। हम उनकी रचनाओं में अनेक बार ऐसे स्थल भी पाया करते हैं, जहाँ उन्होंने अपनी बात अर्ध कही-सी रख छोड़ी है और कभी-कभी उसे गूढ़तर तक बना दिया है।

सन्तों की साहित्य-रचना का यह आदर्श नया न था और यदि अनुसंधान किया जाए तो यह अति प्राचीन भी ठहर सकता है। ग्रन्थों की सजग और सतर्क रचना अथवा व्याकरण एवं छन्द-शास्त्र के अनुसार व्यवस्थित पदयोजना की परम्परा पीछे चली होगी। पहले के लोगोंका सर्वप्रमुख उद्देश्य, अपनी बातों का दूसरों के प्रति केवल प्रकाशित कर देने का ही रहता होगा और अपनी वाणी के प्रयोग में वे वहीं तक सावधान रहना चाहते होंगे, जहाँ तक उसका दूसरों पर पड़ने वाले समुचित प्रभाव से सम्बध हो। इसके सिवाय पहले के लोगों की कदाचित् यह अभिलाषा भी न रहती होगी कि उनकी रचनाएँ सुदीर्घकाल तक सुरक्षित रहें। वे कदाचित इतना ही चाहते होंगे कि उनके वर्ण्य विषय का व्यक्तिकरण हो जाए और वह 'वस्तु' सुरक्षित रहें; उनके 'वर्णन' की भी सुरक्षा के प्रति उनकी वैसी ममता उतनी स्पष्ट न थी। भारत के प्राचीन वैदिक-मन्त्रों से ले कर मिश्र एवं चीन देशों की उपदेशात्मक तथा संकेतात्मक बानियाँ तक हमें सर्वप्रथम केवल फुटकर और प्रक्षिप्त रूप में ही उपलब्ध होती हैं और उन्हें किसी के द्वारा पीछे संग्रहीत और सुव्यवस्थित होना पड़ता है। कहते हैं कि भारत के बिखरे वैदिक-मन्त्रों को क्रमबद्ध और लिपिबद्ध करने के लिए किसी व्यास की आवश्यकता पड़ी

थी। वे मन्त्र, इसलिए, आज हमें 'संहिताओं' के रूप में मिलते हैं और उनके लिए ऋषियों, छन्दों आदि की पृथक् चर्चा भी की गई रहती है।

वैदिक साहित्य के उपनिषद् वाले अंश में भी हमें वैसी सुन्दर व्यवस्था के दर्शन नहीं होते। छोटी-छोटी उपनिषदें तो अधिकतर समय-समय पर कहे गए पद्यबद्ध वचनों के निरे संग्रहों के ही रूप में दीख पड़ती हैं। बड़ी-बड़ी ऐसी रचनाओं में कभी-कभी किन्हीं घटनाओं की भी चर्चा कर दी गई मिलती हैं, जिसमें उनमें कही गई बातों को समझने में उनके प्रसंगों से भी कुछ सहायता मिल जाए। घटनात्मक वर्णनों के कुछ उदाहरण हमें उपर्युक्त संहिताओं में भी मिलते हैं और उनमें वीर गाथा तथा प्रेमगाथा तक के ऐसे फुटकर प्रसंगों का सर्वथा अभाव नहीं, जिन्हें सावधानी के साथ क्रम देने पर सुन्दर गाथाओं की झलक मिल कसती है। कभी-कभी तो ये कतिपय संवादों के रूप में ही आ जाते हैं, जिनके आधार पर हमें कथानकों की रूपरेखा तैयार करनी पड़ती है। परन्तु ऐसे स्थलों की संख्या भी बहुत बड़ी नहीं दीख पड़ती और न इन्हें, हम बिना अपनी कल्पना का प्रयोग किए, कभी प्रबन्ध रचना कह सकते हैं। उपनिषदों में भी कहीं-कहीं हमें ऐसे संकेत मिल जाते हैं, जिनके आधार पर हम वैदिक युग की कुछ घटनाओं का अनुमान कर लेते हैं, किन्तु उनकी भी वास्तविक रचना-शैली फुटकर पद्यों की ही निर्माण-परम्परा को प्रमाणित करती हुई जान पड़ती है। प्रबन्ध-रचनाओं की कल्पना 'रामायण' एवं 'महाभारत' के युगों से आरंभ होती जान पड़ती है और वह पुराणों, इतिहासों, आख्यानों तथा महाकाव्यों आदि के माध्यम से की जाती हुई, आधुनिक युग तक निरंतर चली आई है। बौद्धों एवं जैनों के साहित्य में भी हमें इस क्रमिक विकास का रूप कभी परिवर्त्तित होता नहीं जान पड़ता और अन्य साहित्यों के विषय में भी कदाचित् यही कहा जा सके।

उपनिषद्-साहित्य के साथ सन्त-साहित्य का कई बातों में साम्य दीख पड़ता है। इन दोनों की सब से बड़ी समानता विषयगत है। उपनिषदों का

प्रमुख विषय आध्यात्मिक अनुभूति सम्बन्धी बातों की चर्चा है। उनकी प्रत्येक पंक्ति से प्रकट होता है कि उसका वर्ण्य विषय चर्चा करने वाले की व्यक्तिगत अनुभूति पर आश्रित है, और इसलिए वह पूरे भावगाम्भीर्य के साथ उसे व्यक्त कर रहा है तथा इसी कारण, उसमें सुनी-सुनाई अथवा पढ़ी-पढ़ाई बातों का समावेश बहुत कम रहा करता है। एक-एक पद्य उसके रचयिता के साधनात्मक जीवन के निचोड़ को सब के सामने रखने का प्रयत्न करता है, और यथा-संभव अपने में पूर्ण और पर्याप्त है। इसलिए हम उसे शुद्ध मुक्तक के रूप में निर्मित भी कह सकते हैं। अपने स्थान पर वह अकेला रह कर भी काम दे सकता है। किन्तु कभी-कभी ठीक उसके अनुरूप ही अथवा उससे बहुत कुछ मिलते-जुलते अन्य पद्य भी वहीं संग्रहीत पाए जाते हैं। अन्यथा बीच-बीच में हमें कुछ ऐसे भी पद्य मिलते रहते हैं जो भावावेश में व्यक्त किए गए उपदेश के रूप में रहते हैं। इन सभी का लक्ष्य किसी आध्यात्मिक जीवन के लिए उपयोग में आनेवाले विषयों का ही वर्णन करना रहता है। संत-साहित्य की साखियों, उसके पदों, अरत्नों, आदि के विषय में भी हम इसी प्रकार का परिचय दे सकते हैं।

उपनिषद् की रचना-शैली में हमें जो बात सब से अधिक उल्लेखनीय दीख पड़ती है, वह उनकी सीधी चोट करने की क्षमता है। उसके रचयिताओं में हृदय की सरलता है, भावुकता है और स्पष्ट कह डालने की तत्परता है। वे सादे सात्विक जीवन के अभ्यासी हैं, सहजभाव तथा सहृदयता वाले व्यक्ति हैं, आर अपने दृष्टि-कोण की व्यापकता के कारण, सर्वथा उदार भी कहे जा सकते हैं। ये सभी बातें उनकी इन पंक्तियों के रूपरंग अथवा उनकी भाषा और बनावट के आधार पर असंदिग्ध रूप में कही जा सकती हैं। संतों की रचनाएँ भी इस बात में उनसे भिन्न नहीं ठहराई जा सकतीं। इन दोनों में यदि कोई अन्तर है तो वह मध्यम बनी भाषाओं की भिन्नता, वर्ण्य विषय सम्बन्धी धारणाओं के विकास–भेद और उनके अपने–अपने वातावरणों के कारण आ गया है। उपनिषदों के साथ बहुत साम्य रखनेवाली "श्रीमद्भगवद्गीता" है और उसे यही नाम भी दे दिया

जाता है। परन्तु तथ्य यह है कि, श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के एक सुनिर्दिष्ट संवाद के हृदय में रहने के कारण, इस पर उपदेशात्मकता का रंग भी अधिक मात्रा में चढ़ गया है और कभी-कभी इसमें साम्प्रदायिकता की भी गन्ध आने लगती है। सन्त-साहित्य की रचनाएँ संवादों की शैली में भी पाई जाती हैं, किन्तु इनमें भी अधिकतर वे ही हैं जो मानो सृष्टि-जैसे विषयों से सम्बन्ध रखती हैं, अथवा साम्प्रदायिक-सी हैं।

उपनिषदों की तुलना में रखने योग्य पीछे कोई भी रचना नहीं प्रस्तुत की जा सकी। श्रमण विचार-धारा के अनुसार लिखी गई, पुस्तकों में 'धम्मपद' को बहुत महत्त्व दिया जाता है और उससे कुछ भिन्न कोटि में रखी जाने वाली एक रचना 'कुरल' नाम से प्रसिद्ध है, जिसकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है और जिसे आध्यात्मिकता की दृष्टि से उपनिषदों से बहुत भिन्न भी कहा जा सकता है। 'धम्मपद' में भी हमें उसी बात की कमी दीख पड़ती है; और वह भी इस दृष्टि से एक उत्कृष्ट नीति-ग्रन्थ ही कहलाने योग्य है। सन्त-साहित्य के रचयिताओं ने उपनिषदों की दार्शनिक गम्भीरता तथा 'धम्मपद' एवं 'कुरल' जैसे ग्रन्थों की आलोचनात्मक प्रवृत्ति एवं नीति-पटुता को भी एक ही साथ प्रदर्शित करने की चेष्टा की है और, भक्तों की उस भावुकता का भी पुट देकर जो आडवारों के 'प्रबंधम्' जैसे संग्रहों में उपलब्ध है, उन्होंने उसमें एक ऐसी समन्वयात्मक व्यापकता भी ला दी है जो अन्यत्र दुर्लभ समझी जा सकती है। उनके ऐसे प्रयोगों द्वारा एक ओर जहाँ औपनिषदिक वर्णन शैली के उदात्त गुणों में कमी आई है, वहाँ अन्य प्रकार से कुछ वृद्धि भी हो गई है। इसके सिवाय उपनिषदों के अन्तर्गत बहुत-सी ऐसी बातें भी आ जाती हैं जो केवल वैदिक युगीन होने के ही कारण मान्य हैं और इसमें वर्णाश्रम विहित कर्त्तव्यों तथा यज्ञ-यागादि सम्बन्धी अनुष्ठानों का समावेश किया जा सकता है किन्तु सन्त-साहित्य में न केवल इन जैसी बातों का सर्वथा अभाव है, अपितु इसमें ऐसे अन्य कई विषयों की चर्चा आ जाती है जो वैदेशिक और नवीन हैं।

४. काव्यत्व और काव्य प्रकारादि । क. काव्यत्व

सन्त-साहित्य की साहित्यिक परम्परा पर विचार करते समय उसकी रचनाओं के काव्यत्व पर भी हमारी दृष्टि जा सकती है। इसमें संदेह नहीं कि ज्ञानतः काव्य-रचना करने की चेष्टा बहुत पीछे की बात हो सकती है। पहले के पद्य-रचयिताओं का यह स्वभाव न होगा कि हम, किसी नियम-विशेष के अनुसार अथवा किसी विशेष ढङ्ग से, पद्य लिखें और वह काव्य, कहला कर प्रसिद्ध हो। परन्तु पीछे चल कर जब काव्यत्व-सम्बन्धी लक्षणों की ओर लोगों का ध्यान गया और इस विषय पर नियमादि बनाये जाने लगे, पद्य-लेखकों के हृदयों में यह बात भी आने लगी कि हम अमुक प्रकार की रचना करके उसे 'काव्य' का नाम दिला सकते हैं। फिर भी ऐसे कवियों की कभी कमी नहीं रही जो इस प्रकार जानबूझ कर कविकर्म में प्रवृत्त न होते हों और उनकी रचनाओं में आपसे आप कई काव्य-गुण आ जाते रहे हों। ऐसे लोगों में अधिकतर वे कवि गिनाए जा सकते हैं, जिन्हें कभी कोई वैसी शिक्षा नहीं मिली, किन्तु जो केवल अपनी प्रतिभा के ही बल पर किसी समय काव्य-रचना में सफल हो गए और इनके उदाहरण प्रायः लोक-साहित्य के रचयिताओं में मिल जाया करते हैं। वैदिक संहिताओं तथा औपनिषदिक साहित्य में भी हमें अनेक ऐसे स्थल मिलेंगे, जहाँ सच्ची कविता की गई है, जिनके रचयिताओं ने, कदाचित्, जानबूझ कर काव्यकला का प्रदर्शन नहीं किया होगा। ज्ञानतः काव्य-रचना करनेवाले तो कभी-कभी इस बात का गर्व तक दिखलाने लगते हैं कि हम अपनी कृतियों द्वारा दूसरों को पूर्णतः प्रभावित कर देने में समर्थ हैं।

जिस समय से सन्त-साहित्य के निर्माण का आरंभ हुआ, उस समय ऐसे कवियों की कमी नहीं थी जो अपने को सफल कवि न मानते हों। यदि 'गीतगोविन्द' कार, 'कवि जयदेव' तथा 'आदि-ग्रन्थ' में उपलब्ध पदों के रचयिता 'भगत जयदेव' एक और अभिन्न रहे हों तो स्वयं उनके भी विषय में हम कह सकते हैं कि उन्हें अपनी काव्य-रचना की सफलता में पूरा गर्व

था उन्होंने 'गीत-गोविन्द' के प्रारंभिक श्लोकों में ही कह दिया है कि वे एक विशेष प्रकार के भक्त कवि हैं, इसलिए यदि किसी को हरिस्मरण में जी लगता हो और हरिलीलाओं के विषय में कुतूहल हो तो वह 'मधुर कोमल कान्त पदावली' 'जयदेव-वाणी' का श्रवण करें, क्योंकि कवि काव्य-कला से पूर्णतः अभिज्ञ है।[1] इस कविने उस रचना की अन्तिम पंक्तियों तक में अपनी वाणी का गुणगान किया है और उसे अत्यन्त मधुर एवं आकर्षक ठहराया है।[2] जयदेव कवि के पहले से भी यह प्रथा चली आ रही थी कि अपने काव्य की प्रशंसा की जाए और कभी-कभी तो इस बात को इस प्रकार भी कहा जाता था कि देखने में तो ऐसा कथन कवि की अयोग्यता का प्रदर्शन हो, किन्तु वस्तुतः वह उसकी आत्म-प्रशंसा की भूमिका भी बन जाए, उदाहरण के लिए अपभ्रंश के प्रसिद्ध कवि स्वयंभू का कहना था कि मेरे समान कोई अन्य 'कुकवि' न होगा; न तो मैं व्याकरण जानता हूँ न वृत्ति, सूत्रों का बखान करता हूँ, न मैं ने पंच महाकाव्यों का श्रवण किया है और न भरत के लक्षण, पिंगल के प्रस्तार-भेद अथवा भामह और दंडी के अलंकारों से ही मैं परिचित हूँ, किन्तु फिर भी कवि-कर्म करता हूँ, 'रमज' कहता हूँ तथा काव्य-रचना में प्रवृत्त हूँ।[3]" तथ्य यह है कि इस कवि ने अपनी रचनाओं में पूरा काव्य-कौशल प्रदर्शित किया है और इसकी गणना सर्वश्रेष्ठ कवियों तक में की जाती है।

कवि जयदेव की उपर्युक्त 'आत्मश्लाघा' अवहट्ठ के सफल कवि विद्यापति में भी पायी जाती है। ये अपनी सुन्दर पद रचना के कारण 'अभिनव जयदेव' कहला कर भी प्रसिद्ध थे और सन्त-कबीर साहब के वर्गीय सम-सामयिक भी थे। इन्हें अपनी भाषा शक्ति पर पूरा गर्व था और इन्हें

---

१ 'गीत गोविन्दम्' प्रथम सर्ग, श्लोक २, ३ व ४

२ 'गीत गोविन्दम्', द्वादश सर्ग, श्लोक २८

३ 'हिन्दी काव्य धारा' (सं. राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद १९५४) पृ. सं. २२

विश्वास था कि मेरी रचनाओं का आदर हुए बिना नहीं रह सकता। ये अपनी 'कीर्त्तिलता' में कहते हैं :—

"बालचन्द विज्जावइ भासा, दुहुनहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हरसिर सोहइ, ईणिच्चइ नाअर मन मोहइ॥[1]"

अर्थात् द्वितीया के चन्द्रमा एवं विद्यापति की भाषा इन दोनों को दुष्टजन की हँसी का भय नहीं! वह जहाँ परमेश्वर शङ्कर के शिर पर सुशोभित होता है वहाँ यह निश्चय ही चतुर लोगों के मन को मुग्ध कर लेती है। विद्यापति न केवल अपनी भाषा के सौंदर्य के ही प्रशंसक थे, वरन् उन्हें अपनी पंक्तियों की सरसता पर भी पूरा अभिमान था और उनका कहना था कि जिस प्रकार केवल भ्रमर ही फूलों के रस का स्वाद जानता है उसी प्रकार केवल विज्ञपुरुष ही काव्य-कला के मर्मज्ञ होते हैं[2]' और यह मेरी रचना उन्हें प्रभावित करने में अवश्य समर्थ होगी। उनकी काव्य रचना का उद्देश्य सहृदयों का मनोरंजन था और इसीलिए वे उनसे अतिरिक्त व्यक्तियों के हृदय में रस का संचार कर पाने में कठिनाई का अनुभव करते थे तथा कहते थे कि "मैं क्या प्रबोधन करूँ, कैसे मनाऊँ तथा किस प्रकार नीरस मन में रस ला कर भरूँ।[3]" इस कवि ने मैथिली भाषा में अनेक पदों की रचना की है जो कवि जयदेव के जैसे संस्कृत पदों की टक्कर के माने जाते हैं और जिन्हें, उनकी सुन्दर शब्द-योजना, सरसता और गेयत्व के कारण, गीतों में भी गिने जाते हैं तथा उच्च कोटि का समझा जाता है। कवि विद्यापति ने स्वयं भी अपने कई पदों में उन्हें अपनी ओर से गाने की बात कही

---

१ शिवप्रसाद सिंह 'कीर्तिलता' और 'अवहट्ट यात्रा' (साहित्य भवन लिमिटेड, प्रयाग, १९५५ ई०) पृ० सं० ३०।

२ वही।

३ वही।

है[1] जिससे इसका समर्थन किया जा सकता है।

वास्तव में किसी काव्य-रचना के भाषा-सौष्ठव, पद लालित्य एवं गाने योग्य होने के ही कारण उसे 'गीत' की भी संज्ञा दी जाती थी और विद्यापति एवं कबीर साहब के युग तक 'पद' एवं 'गीत' ये दोनों शब्द एक दूसरे का पर्याय जैसे भी हो चुके थे। कबीर साहबने, कदाचित्, इसी कारण अपने एक पद में कहा है : "तुम इसे कोरा गीत ही मत समझो, इसमें मेरा अपना 'ब्रह्म-विचार' भी निहित है तथा इसमें मैंने अपनी आत्म-साधना का सार लाकर समझा दिया है[2]।" 'यह ब्रह्म-विचार' कबीर साहब को कुल आत्म-विचार से भिन्न नहीं जिसके विषय में उन्होंने बतलाया है कि यदि हम आप ही आप विचारने लग जाएँ तो बड़ा ही आनन्द होता है[3]।" इस प्रकार इनकी पद-रचना किसी 'नाहर' के 'मन' को मुग्ध कर देने के उद्देश्य से नहीं प्रस्तुत की जाती जैसा विद्यापति के कथन से प्रकट होता है, प्रत्युत इसका लक्ष्य, वस्तुतः अपनी सानुभूति की अभिव्यक्ति है। कबीर साहब की दृष्टि से यदि इसका किसी दूसरे के प्रति कथन का भी कोई प्रयोजन हो तो, संभवतः उससे भिन्न नहीं हो सकता जो उनकी साखी-रचना के लिए कहा गया है। उनका कहना है कि "हरि ने मुझे इस प्रकार की पद्य-रचना के लिए इस कारण प्रेरणा दी कि यदि मैं इनकी रचना करूँगा तो संभव है कि उससे प्रेरणा पाकर भवसागर में पड़े हुए को तथा इस प्रकार दुख भी सहने वालों को उसके पार तक पहुँच पाने का एक सहारा मिल जाय[4]।" कबीर साहब

---

१ देखिए 'कवि विद्यापति गाओल' (पद २४०), 'विद्यापति गावत हे' (पद २४५), 'विद्यापति कवि महरसगाव' (पद २६०), इत्यादि (भारती भवन दिल्ली, १९५२ संस्करण)।

२ 'तुम्ही जिनि जानौं गीत है, यहु निज ब्रह्म-विचार।
केवल कहि समझाइया, आतम साधन सार रे ॥ तथा,

३ आपहि आप विचारिये, तब केता होई आनन्द रे ॥ (क० ग्रं० पद ५, पृ० ८९)

४ क० ग्रं० सा० १ पृ० ५९।

किसी अन्य उद्देश्य से की गई काव्य-रचना को कोरे 'कविकर्म' से अधिक महत्व नहीं देना चाहते और ऐसे कार्य में सदा व्यस्त रहने वाले कवियों को उन्होंने "कविता करते करते व्यर्थ ही मरते रहने वाले"[1] तक कह डाला है। जिससे भी उनके आदर्श का पता चलता है।

काव्यादर्श विषयक इस प्रकार का मत-भेद केवल विद्यापति एवं कबीर साहब तक ही सीमित नहीं था। विद्यापति के मतवालों में से उनके पूर्ववर्ती कवि जयदेव तथा स्वयंभू के नाम लिए जा चुके हैं, उनके पीछे तक भी उनका समर्थन बराबर होता आया। यदि उनके कुछ ही अनन्तर आने वाले दो चार ऐसे अन्य कवियों के भी नाम लिए जाएँ तो कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्त कवि तुलसीदास तथा सूफ़ी कवि जायसी इसके लिए दो बहुत उत्कृष्ट उदाहरण सिद्ध होंगे। ये दोनों ही 'महाकवि' की कोटि में रखे जाते हैं। जायसी ने सूफ़ियों में प्रचलित प्रेम-गाथा-परम्परा को अपनाया और उन्होंने अपने 'हिअभण्डार' की 'पूंजी' को 'सुरस पेय मधु भरी' बोली के माध्यम द्वारा प्रत्यक्ष कर, सत्कवियों में गिने जाने की ही अभिलाषा प्रकट की। उन्हें अपने काव्य को भी शुद्ध और सुव्यवस्थित रूप देने की इतनी चिन्ता थी कि खाकसारी के आवेश में उन्होंने अपने को कवियों का 'पछिलगा' तक बतलाया और इसके साथ ही 'पंडितों' वा काव्य-कला-भिज्ञों से अपनी त्रुटियों को सुधारने की भी प्रार्थना की।[2] इसके सिवाय उनकी 'पद्मावत' की कुछ पंक्तियों द्वारा यह भी सूचित होता है कि अपनी उस प्रेमगाथा को उन्होंने यशोपार्जन के भी लिए लिखा था। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है—"मैंने यह कविता यह समझ-बूझ कर लिखी कि यह इस जगत् में मेरे लिए एक स्मारक का काम देगी। कौन इस संसार में ऐसा है जिसने यश का विक्रय नहीं किया अथवा जिसने इसे कभी मोल नहीं लिया। मुझे विश्वास है कि जो इस कहानी को पढ़ेगा वह मेरी

---

१ वही, पद ३१, पृ० १६५।

२ 'जायसी ग्रन्थावली' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग) पृ० ११५।

प्रशंसा में दो शब्द अवश्य कह देगा।"[1] जिससे प्रकट है कि उन्हें कविता की निर्दोषता एवं लोकप्रियता दोनों भी अभीष्ट है।[2]

इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास ने भी अपने को, स्वयंभू की भांति, काव्यकला से अनभिज्ञ बतलाया है और जायसी की भांति, अपने पूर्ववर्ती कवियों का अनुसरण करनेवाला कहा है और वे विद्यापति के समान यह आदर्श भी अपने सामने रखते हैं कि मेरी रचना 'बुध' जनों द्वारा अपनाई तथा समादृत की जाय। फिर भी वे विद्यापति की भांति अपनी भाषा के सौन्दर्य अथवा उसकी सरलता की प्रशंसा नहीं करना चाहते और न इसका आश्रय ही ग्रहण करना चाहते हैं। उनका यह कहना है कि मेरे काव्य में चाहे कोई सरसता न भी हो, किन्तु इसमें 'राम' का 'प्रताप' बहुत स्पष्ट है और मुझे इसी का भरोसा है। वे अन्यत्र 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' की ममता से रहित होना भी पसन्द नहीं करते। काव्यादर्श के सम्बन्ध में उनकी सबसे बड़ी देन यही जान पड़ती है कि उन्होंने इसमें 'स्वांतःसुखाय' के साथ साथ 'सब कँह हित' का भी सुन्दर समन्यवय कर डाला है।[3] अतएव, यद्यपि वे 'कवि कर्म' को पूरा महत्व देते जान पड़ते हैं और वे इसे उच्चस्तर के ही लोगों द्वारा समादरणीय भी ठहराते हैं, किन्तु फिर इसे आत्मसंतोष के साथ साथ जन-कल्याण का भी पोषक बतला कर वे संतों की भी मान्यता के निकट आजाते हैं। यह कवि कदाचित्, किसी एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन का आदर्श भी रखना चाहता है जिसके अन्तर्गत काव्य-रचना एवं भक्ति साधना के मौलिक उद्देश्यों में कोई स्पष्ट अन्तर न लक्षित हो सके।

गोस्वामी तुलसीदास के ही समकालीन सन्त कवि दादूदयाल थे।

१ वही, पृ० ५५५।

२ परशुराम चतुर्वेदी 'कबीर-साहित्य की परख' भारती भण्डार, प्रयाग, सं० २०११

३ वही पृ० १२।

४ "ऐसी प्रीति प्रेम की लागै, ज्यूँ पंषी पीव सुनावै रे, त्यूँ मन मेरा रहै निसु वासरि, कोई पीव कूँ आणि मिलावै रे" दादूदयाल की वाणी (अजमेर) पृ० ४१७।

जिनकी काव्य विषयक धारणा उनसे अधिक कबीर साहब से मिलती है। इन्होंने अपने सम्बन्ध में एक स्थल पर कहा है—"अपने प्रेमास्पद से मिलने की मेरी अभिलाषा बहुधा इतनी तीव्र बन जाती है कि मेरा मन उसमें रात-दिन रमने लगता है और मैं अपने विरह की पीर का गान, किसी पक्षी की भांति, आप से आप करने लग जाता हूँ।" और उनकी आगे वाली पंक्तियों द्वारा इसका और भी स्पष्टीकरण हो जाता है अपने इष्टदेव के प्रेम में 'मगन' हो कर जब वे अनिर्वचनीय दशा में आ जाते हैं उस समय न तो उन्हें, जायसी की भांति किसी प्रेमगाथा की रचना की प्रवृत्ति होती है, न वे सूरदास की भांति किसी 'सगुण लीलापद' का गान आरम्भ करते हैं और न वे तुलसीदास के ढंग से अपने 'राम' के किसी चरित का ही आधार ले कर प्रबन्ध रचना करने बैठते हैं। उन्हें कदाचित्, इस बात का पता भी नहीं कि मेरी पंक्तियाँ किसी काव्य-शास्त्र के नियमानुसार निर्मित होती जा रही हैं वा नहीं अथवा 'बुध' जन कभी उनकी सराहना करेंगे या नहीं। उन्हें अपनी रचना द्वारा यश पाने की भी आशा नहीं और न वे उनका गान करते-करते तर जाने का मनोरथ ही रखते हैं। ऐसी बातों की ओर उनका ध्यान जाता नहीं जान पड़ता और वे केवल कबीर का-सा 'सांचा सबद' पसन्द करते हैं और उसकी ही मिठास में आनंदित होना चाहते हैं[1] जो उन्हें तुलसीदास आदि से भिन्न आदर्श का प्रेमी ठहराता है।

इन दोनों आदर्शों की भिन्नता का कारण सन्त कवियों का अशिक्षित वा अर्द्धशिक्षित होना मात्र ही नहीं था, क्योंकि इस बात को हम उन सन्तों की रचनाओं के आधार पर भी सिद्ध कर सकते हैं जो केवल शिक्षित ही नहीं थे, प्रत्युत काव्य-कला से पूर्णतः अभिज्ञ भी थे। सन्त सुन्दरदास दादूदयाल के ही शिष्य थे और एक दार्शनिक विद्वान् तथा निपुण कवि भी थे।

---

१ दूदयाल की वाणी' साखी ३४, पृ० २७६ (दे० 'कबीर साहित्य की परख' पृ० १२-३ भी)।

उनका कहना है कि "काव्य सर्वांग सुन्दर बन जाने पर पढ़ने में बहुत अच्छा लगता है और यदि 'अंगहीन' हो तो उसे सुनते ही कविजन भाग खड़े होते हैं। अक्षरों की न्यूनाधिकता के कारण कविता लुढ़कती हुई चलती है, मात्रा की घटी बढ़ी रहने पर वह मतवाली स्त्री लगने लगती है और तुकों के बे मेल हो जाने पर, वह ऐंची कानी दीखने लगती तथा वर्णहीन होने पर अन्धी-सी बन जाती है। किन्तु फिर भी ये सभी दोष उसके सम्बन्ध में बाह्य ही है। काव्य का प्राण तो 'हरिजस' है। जिसके बिना वह शवतुल्य कहा जा सकता है। यह 'हरिजस' तुलसीदास का 'राम प्रताप' नहीं है। यह केवल 'राम' का नाम तथा उसके द्वारा उपलब्ध स्वानुभूति का प्रसंग है जो संत साहित्य का सर्व प्रमुख विषय कहा जा सकता है। संत सुन्दरदास के समय तक कवि केशवदास जैसे शृंगारी कवियों की रचनाओं का प्रचार होने लगा था। इसलिए इनके ध्यान का उन कलाकारों की ओर भी चला जाना स्वाभाविक था और इसी कारण, इन्हें उनकी रचनाओं की निन्दा स्पष्ट शब्दों में भी करनी पड़ी।[२]

संत काव्य की यह परम्परा अपने मूल रूप में कदाचित् उपनिषदों के ही समय से चल निकली थी और वह "उस स्वतः प्रसूत निर्झर के समान आगे बढ़ी थी जो किसी मूल स्रोत से निसृत हो कर आप से आप अग्रसर होता चला जाता है। उसका मार्ग किसी कृत्रिम नहर का सा बना बनाया नहीं रहा करता और न उसके दायें बायें खड़े करारों की बाधाएं ही उसे अवरुद्ध करती रहती हैं।[3] इसकी जितनी भी विशेषताएँ थीं वे लगभग एक ही समान सदा बनी रहीं और इसका प्रमुख उद्देश्य भी आत्म प्रकाशन मात्र ही रहा। संत-साहित्य के कवियों ने प्रबंध काव्य की अपेक्षा मुक्तक रचना-पद्धति को विशेष महत्त्व दिया, क्योंकि ऐसा करना ही उनके लक्ष्य के अधिक

१ 'सुन्दर ग्रन्थावली' (कलकत्ता) द्वितीय खण्ड, पृ० ६७२।

२ 'सुन्दर ग्रन्थावली', 'द्वितीय खण्ड' पृ ४३६-४०।

३ 'कबीर साहित्य की परख' पृ० १४।

अनुकूल पड़ता था और अपनी कथन शैली के लिए उन्होंने पिंगल, भाषा, व्याकरण, रस अलंकारादि संबंधी नियमों की उपेक्षा भी की। संत-साहित्य की रचनाओं को हम, इसी कारण, शैली-प्रधान से कहीं अधिक भाव प्रधान कहना ही उचित समझेंगे और उनके भाव गांभीर्य सम्बधी महत्त्व के सामने उनकी भाषादि के सौष्ठव की ओर ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं कहेंगे। संत कवियों में से ऐसे बहुत ही कम हुए जिन्होंने अपनी रचनाओं की बाहरी सजावट की ओर भी ध्यान देना आवश्यक समझा। वे अधिकतर इसी प्रयत्न में लगे रहे कि किस प्रकार अपने भीतर के गूढ़ रहस्यों को यथावत् प्रकट करने में समर्थ हो सकें। उनका ध्यान जितना भीतर की ओर केंद्रित रहा उतना बाहरी रूपादि की ओर भी कभी आकृष्ट नहीं हो पाया और न कभी उन्होंने इस बात की चिंता की कि अपने पाठकों वा श्रोताओं को हम अपनी अपनी स्वीकृत विचार पद्धति से किसी भिन्न मार्ग के ग्रहण करने में प्रोत्साहन ही दें।

ऊ. काव्य-प्रकार

संत-साहित्य की रचना का आरम्भ पहले पहल पदों वा बानियों एवं साखियों के रूप में हुआ था और वह पीछे अन्य प्रकार के भी काव्य-रूपों में, अथवा वस्तुतः विभिन्न काव्य-प्रकारों में, निर्मित की जाने लगी। किसी सुव्यवस्थित प्रबन्ध काव्य का तो इसमें अभाव ही दीख पड़ता है, इसमें ऐसी रचनाओं की भी संख्या अधिक नहीं जिन्हें हम निबन्ध काव्य की परिभाषा में ला सकें। इसके अन्तर्गत फुटकर काव्य अथवा पद्य ही प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं और उन में भी ऐसे बहुत कम हैं जिन्हें वास्तविक मुक्तक कहा जा सके। 'मुक्तक' की परिभाषा देते हुए अभिनव गुप्त ने कहा है कि "उनमें निहित काव्य रस का आस्वादन, बिना उनके पहले वा पीछे के पद्यों की अपेक्षा किए भी, किया जा सकता है[1]" और इसीलिए ऐसे काव्यों में उनके

---

१ 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तदेव मुक्तकम्'—अभिनव गुप्त

अकेले रहने पर भी, पूरा चमत्कार आ जाया करता है। परन्तु संतों की ऐसी रचनाएँ भी हमें, किसी अच्छी संख्या में, देखने को नहीं मिल सकतीं। इनमें रस, अलंकार, उक्ति वैचित्र्य, आदि की बातें यदि आप से आप आ गई हों तो ऐसा संभव है, किन्तु वे भी कभी कभी किसी निराले ढंग की ही होंगी। ऐसे मुक्तकों वा फुटकर छन्दोवद्ध पद्यों को हम यहां उनके विविध रूपों में देखते हैं। या तो ये यहां पर सूक्तियों के रूप में मिलेंगे जिन में उक्ति-वैचित्र्य की प्रधानता रहती है और जो कभी कभी कोरे नीति वाक्य बन कर भी रह जाते हैं अथवा ये उन गीतों के रूप में पाए जायेंगे जिन की रचना स्वर, लय एवं ताल को भी ध्यान में रख कर की गई रहती है। संत-साहित्य के अंतर्गत हमें कुछ निबंध काव्यों के भी उदाहरण मिलेंगे जिन के पद्य मुक्तकों की भांति अकेले ही नहीं आया करते। निबन्धों के पद्य एक से अधिक संख्या में रहा करते हैं जो परस्पर संबद्ध भी रहते हैं और इस बात में ये प्रबन्ध-काव्य से भी मिलते जुलते हैं। किन्तु प्रबन्धों में जहां घटना-वैचित्र्य चरित्र-चित्रण, आदि की भी विशेषता पायी जाती है, वहां इन में केवल वर्णनात्मक वा विवरणात्मक पद्य ही रहते हैं और उनमें भी वैसा काव्य सौंदर्य नहीं दीख पड़ता जो सकल प्रबन्ध काव्यों की सब से बड़ी विशेषता है। संत-साहित्य में वे प्रबन्ध काव्य प्रायः नहीं के बराबर हैं।

१. पद

संत-साहित्य की सब से प्रचीन उपलब्ध रचनाएँ पदों के नाम से अभिहित की गई मिलती हैं। संत जयदेव की ऐसी एक रचना 'आदि ग्रंथ' के अंतर्गत 'रागु गूजरी' के शीर्षक में 'सी जैदेव जी उका पदा घर ४' नाम से आई है और दूसरी उसी संग्रह में 'रागु मारू' शीर्षक के नीचे 'वाणी जैदेउ जीउ की' नाम से दीख पड़ती हैं[२] और इन दोनों के रचयिता 'गीत गोविंद

---

१ "मुक्तकं श्लोक एकैक श्चमत्कारक्षमः सताम्"-अग्निपुराण।

२ 'गुरु ग्रन्थ साहिब जी' (गुरु खालसा प्रैस, अमृतसर), पृ० ५२६ और ११०४।

कार जयदेव ही समझे जाते आए हैं। संतों के पदों को वाणी वा बानी के अतिरिक्त 'संबद' वा शब्द कहने की भी परम्परा है और, जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है, ये कभी कभी, अपने गेयत्व के कारण, 'गीत' भी कहे जाते हैं। पद रचना परम्परा संत जयदेव के पहले से चली आती है। इसके उदाहरण हमें बौद्धों की चर्यागीतियों में मिलते हैं, जिन्हें चर्यापद भी कहा जाता है और यह भी अनुमान किया गया है कि इनसे भी पहले रची गई वे कतिपय वज्रगीतियां हैं जिनके रचयिताओं का पता नहीं चलता। वज्रगीतियां 'हेरुक' नामक वज्रयानी देवता को उद्दिष्ट करके लिखी गई मिलती हैं और उनकी भाषा में अपभ्रंश के साथ-साथ 'लौकिक' प्रयोग भी पाये जाते हैं। उनकी छन्दोरचना-पद्धति को भी 'लौकिक' का ही नाम दिया गया है और उनकी रचना कला में वैसी उन्नति के चिन्ह नहीं पाये गए हैं जो चर्यागीतियों में दीख पड़ती हैं, और इसीलिए, उन्हें इन से पहले निर्मित भी माना गया है। वज्र गीतियों में जहां मात्रा का क्रम १३+१२ का चलता है वहां चर्यागीतियों के अन्तरगत वही केवल ८+७अथवा ८+८+१२ (अथवा कभी कभी १०) का ही मिलता है और पहली में जहां केवल द्विपदियां ही दीख पड़ती थीं वहां दूसरी में त्रिपदियां तक आ जाती हैं[1]।

इन पदों वा वानियों के आकार प्रकार के संबन्ध में सर्वत्र समानता नहीं दीख पड़ती। कभी-कभी तो इनमें २२ तक पंक्तियां आ जाती हैं और कभी-कभी केवल ३ तक ही रह जाती है[2] और ये सख्यांएँ कदाचित्, और भी बढ़ या घट जा सकती हैं। कवि जयदेव की संस्कृत-रचना प्रसिद्ध 'गीत गोविंदम्' में भी गीतों का ही समावेश किया गया है और वे प्रायः 'अष्टपदी' गीतों के नाम से प्रसिद्ध हैं।, उनकी द्वितीय पदी 'ध्रुव' कहलाती है और अन्तिम पदी को 'भणिता' का नाम दिया जाता है क्योंकि उसी में कवि 'भणति' (=कहता है) का प्रयोग करता है संतों के भी पदों में जो प्राचीन

---

१ Dr. Sukumar Sen : 'Old Bengali Tests' p p 44-5.

२ 'कबीर ग्रन्थावली' पद २६६ पृ० १८८-९ और पद ४५ पृ० १०३।

संग्रहों में मिलते हैं इसी नियम का अनुसरण किया गया दीख पड़ता है। किन्तु कवि जयदेव के लिए कहा गया है कि उन्हों ने इस प्रकार की रचना-पद्धति पहले पहल चलाई थी और इस बात में उन्हों ने देशी भाषा का अनुकरण किया था। डा० पिशल का तो यहां तक अनुमान था कि 'गीत गोविंदम्' का पाठ पहले प्राकृत वा अपभ्रंश में था जिसका संस्कृत रूपांतर किया गया। किन्तु अन्य बहुत से विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया है और उस काव्य के स्वाभाविक सौष्ठव के आधार पर उसे मूल रूप ही माना है। श्री हरे कृष्ण मुखोपाध्याय ने अपने सम्पादित 'गीत गोविंदम्' की 'भूमिका' में यह भी बतलाया है "उस समय संस्कृत-साहित्य में 'गीत गोविंदम्' ही एक मात्र ऐसी रचना नहीं था। गुजरात के कवि राम कृष्ण रचित 'गोपाल केलि चन्द्रिका' में भी इसकी जैसी ही पदावली दीख पड़ती है"[1] और उन दिनों ऐसे कई नाटक भी खेले जाया करते थे जिनमें इस प्रकार के गानों का समावेश रहता था।

बौद्ध सिद्धों के 'चर्यापद' एवं 'गीत गोविन्द' के गीतों का रूप लगभग एक सा है और ऐसे ही गेय पदों को 'प्रबन्ध' भी कहा जाता है।[2] संगीतज्ञों का कहना हैं कि प्रत्येक ऐसे प्रबन्ध के पांच अंग होते रहे हैं जिन्हें क्रमशः उद्ग्रह, मेलापक, ध्रुव, अन्तरा एवं आभोग कहा करते थे। इन में सब से पहले 'उद्ग्रह' आता था और उसके अनन्तर 'मेलापक' को स्थान दिया जाता था क्योंकि वह इसे 'ध्रुव' से सम्बन्ध करता था। इसी प्रकार ध्रुव अनुपद, वा बार बार दुहराये जाने वाले अंश' का काम देता था और 'अन्तरा' इसके एवं उस अन्तिम 'आयोग' का सन्धिस्थल बनता था जिसके द्वारा पूरे प्रबन्ध का आशय मिल जाता था और जिसमें प्रायः उसके

---

१ कवि जयदेव ओ श्री गीत गोविन्दः गुरुदास चट्टोपाध्याय एण्ड सन्स, कलिकाता, १३५६, पृ० ७०।

२ यहां 'प्रबन्ध' शब्द 'प्रबन्ध काव्य' से भिन्न अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—लेखक

रचयिता का नाम भी आ जाया करता था। संगीतज्ञों का यह 'प्रबंध' हमें उसे 'नाडायिर प्रबंधम्' का भी स्मरण दिलाता है जिसमें तमिल आडवार भक्तों की रचनाएँ संगृहीत हैं। उन प्रबन्धों या 'प्रबंधम्' में संगृहीत आडवारों के गेय पद्यों की रचना किस प्रकार की गई है, पता नहीं। किन्तु उनके प्रकाशित अनुवादों की रूप-रेखादि से पता चलता है कि वे अधिकतर पृथक् पृथक् निर्मित पद्यों के ही रूप में है और वे या तो निर्बंध हैं या निबंध-काव्य हैं। शैव धर्म के अनुयायी तमिल नायवर भक्तों की भी लगभग इसी प्रकार की रचनाएँ पायी जाती हैं और ये सभी जयदेव से पहले की हैं। अतएव हो सकता है कि ऐसे गेय पद संस्कृत में सर्वप्रथम प्रांतीय भाषाओं की ही ओर से आये हों। यों तो, यदि इन का संबंध वैदिक सूक्तों के साथ किसी प्रकार जोड़ा जा सके और इनके क्रमिक विकास का पता चल सके तो ये अत्यन्त प्राचीन भी ठहरेंगे।

संतों के सभी पदों में 'ध्रुव' अथवा 'टेक' नहीं रहा करता और न उक्त पांचों अंगों में से अन्य भी वैसे ही पाये जाते हैं। 'आदिग्रंथ' में ध्रुव को 'रहाउ' वा ठहराव का नाम दिया गया है और वहां यह प्रायः दूसरी 'पदी' बन कर आता भी है। किन्तु आधुनिक संग्रहों में जहां इसे 'टेक' कहा गया है वहां इसे अधिकतर प्रथम स्थान मिलता आया है। पदों की पदियों की यह एक विशेषता है कि वे प्रायः सम तुकांत ही रहा करती हैं जो अपभ्रंश की ऐसी रचनाओं की भी विशेषता है और दूसरी बात जो इनमें उल्लेखनीय है वह इनकी पंक्तियों का मात्रिक छंदों में पाया जाना है जिस का भी मूल स्रोत हम अपभ्रंश को ही मान सकते हैं। जयदेव के जो पद 'आदि-ग्रंथ' में संगृहीत हैं उन में तुकों का मेल न केवल अन्त में दीखता है, प्रत्युत वह बीच-बीच में भी आ जाता है। उनके वंशजों के विषय में कहा जाता है कि वे अपना मूल संबंध पंजाब से जोड़ते हैं और कहते हैं कि वहीं से हमारे पूर्वज उत्कल की ओर आये थे। इस बात का प्रभाव स्वयं जयदेव की भाषा पर भी पड़ा था और वही पीछे सधना, वेणी, आदि पश्चिमी संतों के पदों में भी लक्षित हुआ। किन्तु इन सभी संतों के संबन्ध में जब तक पूरी जांच

नहीं हो जाती तब तक इस प्रकार के किसी अन्तिम निर्णय का करना उचित नहीं। नामदेव, त्रिलोचन एवं सेन नाई का सम्बन्ध महाराष्ट्र के साथ माना गया है, किन्तु उनकी रचनाओं पर मराठी छन्दों का प्रभाव बहुत अधिक नहीं। जान पड़ता है कि भाषा के साथ साथ इन संतों ने हिन्दी के काव्य प्रकारों एवं छन्दों को भी सरलतापूर्वक अपना लिया था। निमाड़ प्रांत के संत सिंगाजी की रचनाओं में भी हम अधिकतर देखते हैं कि उनकी भाषा में निमाड़ीपन आ गया है, किन्तु छन्दों में वैसी बात कम है।

संत-साहित्य में गिने जाने वाले पद-संग्रहों में एक यह बात भी दीख पड़ती है कि उनमें विभिन्न प्रकार के छन्दों का एक साथ प्रयोग किया गया मिलता है और इसीलिए उनमें वह एकरूपता नहीं पायी जाती जिसके आधार पर कोई सामान्य नियम निर्धारित किया जा सके और यह कमी उनके केवल विभिन्न रागों के अन्तर्गत गाये जाने के ही कारण नहीं आती। भिन्न भिन्न रागों के अनुसार ये उन्हीं संग्रहों में विभाजित किये गए हैं जो किन्हीं संगीतज्ञों द्वारा संपादित है। 'कबीर बीजक' के पदों के प्राचीन हस्त-लेखों में भी उनका रागानुसार किया गया वर्गीकरण नहीं दीख पड़ता। किन्तु उन्हीं को जोहैनी (उदयपुर) के प्रसिद्ध संगीतज्ञ श्री कृष्णानन्द व्यास ने अपने बृहद् ग्रंथ 'राग कल्पद्रुम' के अन्तर्गत विभिन्न रागों में प्रकाशित किया है। 'आदि ग्रंथ' एवं 'कबीर ग्रंथावली' में भी ऐसा किया गया है, यद्यपि इनके सभी पद ठीक वे ही नहीं जो 'कबीर बीजक' के हैं। इसके सिवाय हम यह भी देखते हैं कि किसी भी पद के लिए यह अनिवार्य नहीं प्रतीत होता कि वह केवल अमुक राग में ही रखा जाय। उदाहरण के लिए 'कबीर ग्रंथावली' के राग गौड़ी वाले १०, १२, २१, ३६, ६१, ६२, १११ तथा १४७ संख्यक पदों के 'आदि ग्रंथ' के अन्तर्गत क्रमशः रागु आसा २२ तथा ६, रागु गूजरी २, रागु मारू १, रागु भैरउ ४, रागु विभास ४, रागु आसा १२ तथा रागु बिलावल के शीर्षकवाले रूपों में स्थान दिया गया है जिससे कहा जा सकता है कि इस प्रकार का वर्गीकरण कदाचित् किसी प्रारंभिक

मूल प्रति के अनुसार न हों। फिर भी ऐसे वर्गीकरणों के कारण पदों के रचना-क्रम में कोई अन्तर नहीं आता और वे प्रायः जैसे के तैसे ही रह जाते हैं।

रागों के अनुसार वर्गीकरण करने की उक्त प्रणाली विशेषकर प्राचीन या मध्य-कालीन संतों के ही विषय में लागू होती पायी गई है। आधुनिक संतों की बहुत-सी ऐसी रचनाओं को विभिन्न गानों के रूप में रखने की भी एक परम्परा है। उदाहरण के लिए संत तुलसी साहब के बहुत से पद या पद्य-समूह धमार, ठुमरी, धुरपद, रघा, तिल्लाना, आदि के अन्तर्गत भी रखे गए हैं। इस प्रकार का वर्गीकरण, कदाचित्, उस समय भी प्रचलित था जब 'कबीर बीजक' की रचनाएँ, सर्वप्रथम, संगृहीत हुई थी। वहां पर ऐसी रचनाओं को 'सब्दों' वा पदों से पृथक् कर के रखा गया है और उन्हें या तो बसंत, चांचर और हिंडोला जैसे नाम, उन्हें ऋतु विशेष में गाने योग्य समझ कर, दिए गए हैं वा उन्हें कहरा, वेलि, विरहुली और विप्रमतीसी जैसे अन्य प्रकार की संज्ञाएँ दी गई हैं जिनके विषय में वैसा कारण नहीं दिया जा सकता। यहां पर यह भी उल्लेखनीय है कि 'कबीर बीजक' के ८ वें और १२ वें कहरों को हम 'कबीर ग्रंथावली' के क्रमशः ३६६ वें और १८७ वें पदों के भी रूपों में संगृहीत पाते हैं और ऐसा करने का कोई स्पष्ट कारण भी नहीं प्रतीत होता। 'ग्रंथावली' में उक्त पहला पद 'राग बिलावल' के अन्तर्गत रखा गया है जहाँ दूसरे को 'राग राम कली' के शीर्षक में स्थान दिया गया है। जान पड़ता है, गानों के अनुसार पदों के विभाजन की पद्धति उस समय से चली जब पन्थों और संप्रदायों के निर्माण का कार्य बहुत दूर तक प्रगति कर चुका था और ऐसे विभिन्न वर्गों के अनुयायियों में सामूहिक गान की भी प्रवृत्ति जगने लगी थी। यह समय विक्रमी संवत् की अठारहवीं शताब्दी का युग था। जब से प्रमुख संतों की रचनाओं के सुव्यवस्थित संग्रहों की भी आवश्यकता का अनुभव होने लगा और जब से उनके गंम्भीर अध्ययन की दृष्टि से कभी कभी उन कृतियों का विषयानुसार वर्गीकरण भी होने लगा।

२. बावनी चौंतीसा आदि

पद्यों की रचना कभी कभी अक्षरों के क्रमानुसार की गई भी मिलती है और इन में से 'बावनी' और 'चौंतीसा' अधिक प्रसिद्ध हैं। 'बावनी' का क्रम स्वर एवं व्यंजन दोनों के अनुसार चलता है जहाँ चौंतीसा में केवल व्यंजनों का ही ध्यान रखा जाता है। इस प्रकार की अन्य रचनाएँ 'अखरावट', 'बारह खड़ी' 'ककहरा', आदि भी हैं जिनमें वैसी संख्याएँ सूचित नहीं की गई हैं। कबीर साहब की 'बावनी' को 'बावन अषरी' भी कहा गया मिलता है और इन दोनों में कुछ अन्तर भी दीख पड़ता है। 'ग्रंथ बावनी' कबीर-ग्रंथावली' में उसकी 'रमैणी' के नीचे पाद-टिप्पणी में दी गई हैं और 'बावन-अषरी 'आदि ग्रंथ' में रागु गउड़ी के अन्तर्गत संगृहीत है। 'ग्रंथ बावनी' में कुल छः पद आये हैं और उसका आरंभ दोहे से तथा अंत चौपाई से हुआ है, किन्तु 'बावन अषरी' की पंक्तियाँ इससे अधिक हैं। इन बावनियों के आरंभ में ही कह दिया गया है कि "अक्षर बावन है और तीनों लोकों की सभी बातें इन्हीं के अन्तर्गत आ जाती है[1]।" इनमें जो बावन अक्षर आते हैं वे गिनती में पूरे नहीं ठहरते, किन्तु फिर भी, अन्त में, 'बावन अषिर जो दे आंनि' कह दिया गया है जिससे पता चलता है कि उसमें आए हुए केवल ५१ अक्षरों में ॐ कार को जोड़ कर इसकी पूर्ति की गई है। 'बावनी' के रचयिताओं में संत भीषजन का नाम अधिक प्रसिद्ध है जिनकी रचना 'सवैंग बावनी' भी कहलाती है और जिसके छंद दोहे चौपाई में न हो कर केवल छप्पय में ही हैं। ये भी ॐ कार से आरंभ होते हैं किन्तु वर्णों का क्रम छठें छप्पय से आरंभ हो कर ५४ वें तक चलता है और 'ह' अक्षर तक ही समाप्त हो जाता है। इस प्रकार यहां यदि ॐ कार को जोड़ा जाता है तब भी कुल अक्षरों की संख्या ५० से अधिक नहीं जाती। बावनी-साहित्य में अधिकतर जैन कवियों की रचनाएँ पाई जाती हैं और श्री नाहटा जी के

---

१. 'बावन आखिर लोकत्री सब कुछि इन ही मांहि'-क० ग्रं०, पृ० २२६।

अनुसार ऐसी सर्वप्रथम रचना सं० १४०० के लगभग की है। पता नहीं अन्य बावनी-रचनाओं में भी सर्वत्र बावन अक्षर पाये जाते हैं या नहीं किन्तु यहां पर यह नाम सार्थक होता नहीं जान पड़ता। इसमें संदेह नहीं कि नागरी लिपि के अनुसार १६ स्वर एवं ३६ व्यञ्जन होते हैं जिनका योग ५२ ठहरता है और इनमें ॐ कार नहीं आता, अतएव, यदि ५२ अक्षरों के अनुसार ही रचना का किया जाना आवश्यक था तो किसी को छोड़ना नहीं चाहिये था। किन्तु ऐसा लगता है कि इन कवियों का ध्यान अक्षरों की ठीक संख्या की ओर न जा कर, 'बावनी' नामक किसी प्रचलित काव्य प्रकार के अनुसार, छंदों योजना कर देने मात्र की ही ओर, गया और इन्होंने अपनी धुन में 'अषरी' को अक्षर (अविनाशी) मान लिया। 'बावनी' शब्द का व्यवहार, पद्यों की संख्या के भी ५२ होने के अनुसार, पहले किया गया होगा। 'शिवा बावनी' में भी यही दीख पड़ता है।

'चौंतीसा' नाम की रचना को 'कबीर बीजक' में 'ग्यान चौंतीसा' नाम दिया गया है और इसकी कुछ पंक्तियाँ आदि ग्रन्थ' एवं 'कबीर-ग्रन्थावली' में भी लगभग जैसी की तैसी पायी जाती हैं, किन्तु तीनों संग्रहों में पूरी समानता का अभाव है। 'चौंतीसा' में भी ॐ कार का प्रयोग किया गया है, किन्तु, बिना उसे जोड़े भी इसके अक्षरों की संख्या पूरी हो जाती है। इसमें चौपाई छंद आया है और इसका विषय, चौंतीस अक्षरों के पारस्परिक कथोपकथन द्वारा, उपदेश देना है। इस काव्य प्रकार का उदाहरण 'प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह'[1] में मिलता है जिससे पता चलता है कि इसका आरंभ भी अपभ्रंश भाषा में ही हुआ होगा। श्री राहुल जी ने उस रचना को अपनी पुस्तक 'हिन्दी काव्य धारा' में उद्धृत किया है और इसे शालिभद्र कक्का' नाम दिया है। इसमें अक्षरों का क्रम केवल 'ह' तक ही पहुँचता है जहाँ 'कबीर बीजक' वाले 'चौंतीसा' में यह 'छ' या 'क्ष' तक चला जाता है।

---

१. 'Gaikwad Oriental Seris,' Vol XIII

इसमें, केवल अक्षरों के बीच, कथोपकथन न होकर वह जीते जागते व्यक्तियों में कराया गया है और इसमें उपदेश की जगह शुभ कामना लेती जान पड़ती है।[1] कबीर साहब की समझी जाने वाली एक रचना 'अखरावती' नाम से भी प्रकाशित है जिसमें नागराक्षरों के स्वरों वा व्यंजनों का कोई नियमित क्रम नहीं जान पड़ता और उसके अंत में, यह भी कहा गया मिलता है कि उस "अद्वितीय का ज्ञान बावन अक्षरों में व्याप्त है।[2]

चौंतीसा कभी-कभी 'ककहरा' नाम से भी अभिहित किया जाता है और 'कबीर साहब की शब्दावली' (चौथा भाग) में भी एक वैसे ही पद्य को 'ककहरा' कहा गया है जिसे अन्यत्र चौंतीसा नाम दिया गया मिलता है।[3] अन्य संत कवियों के भी ककहरे मिलते हैं। उदाहरण के लिए संत भीखा साहब की एक ऐसी रचना मिलती है जिसके आरंभ में एक 'टेक' है और तदनंतर 'क' से लेकर 'छ' तक चौंतीस व्यंजनों के अनुसार, एक-एक पंक्ति को लेकर, पूरा पद प्रस्तुत किया गया है। सबके अन्त में "अइ-एउ गुरु गुलालजी दियो दान समुदाय" के द्वारा चार स्वरों का भी प्रयोग कर दिया गया है।[4] इसी प्रकार सन्त धरनीदास की रचनाओं में हमें तीन 'ककहरे' मिलते हैं जिनमें पहले की विशेषता 'ङ' के स्थान पर 'उ' का प्रयोग है, दूसरे में प्रधानतः "चौंतीस अक्षरों द्वारा 'जोग वरनन' एवं काल-कर्म विचार की बातें" प्रकट की गई हैं तथा तीसरे के अन्त में कहा गया है "यह संसार 'करम' के ककहरे में लिपटा हुआ है, संतों के ककहरे को

---

१. दे० 'हिन्दी काव्य धारा' (किताब महल, इलाहाबाद, १९४५), पृ० ४७२—८।

२. "वा का ज्ञान अखरावति सारा। बावन अच्छर का विस्तारा" (वेलबेडियर प्रेस, इलाहाबाद), पृ० २४।

३. दे० 'कबीर पंथी शब्दावली' चौंतीसा (सं० २), पृ० ६२२-३२ और 'कबीर साहब की शब्दावली' (चौथा भाग) पृ० २३-३१।

४. 'भीखा साहब की शब्दावली' (वे० प्रे०, १९७९), पृ० ८७-८।

कोई-कोई ही समझ पाता है, क्योंकि यह अनुभव पर ही निर्भर है।[1] "इससे स्पष्ट है कि, बाबा धरनीदास के अनुसार 'ककहरा' शब्द से अभिप्राय केवल वर्ण क्रमानुसार पद्य रचना से ही नहीं है, प्रत्युत स्वानुभूति के व्यक्तीकरण से भी हो सकता है ? सन्त तुलसी साहब ने भी अपने ककहरे द्वारा भेद की बातें बतलायी हैं और उसे 'अंक बंक बत्तीस' में बखान किया है।[2] कहते हैं कि असम प्रांत के प्रसिद्ध भक्त कवि शंकरदेव जब अपनी यात्रा में काशी आए थे तो उन्होंने कबीर साहब की 'चौंतीसा' नामक रचना सुनी थी और उससे प्रभावित होकर उन्होंने स्वयं भी अपनी भाषा में 'चातिहा' नाम की एक रचना निर्मित की थी।[3] यदि यह सत्य हो तो 'कबीर बीजक' वाली 'ग्यान चौंतीसा' नामक रचना की प्रामाणिकता पर भी कुछ प्रकाश पड़ सकता है।

परन्तु वर्ण माला के क्रमानुसार काव्य रचना करने की यह परम्परा केवल नागराक्षरों तक ही सीमित नहीं थी। फ़ारसी अक्षरों के भी अनुसार 'अलिफ़ नामा' नामक रचनाओं का निर्माण किया जाता था जिसके कई उदाहरण संत साहित्य में भी उपलब्ध हैं। ऊपर जिस प्रकार 'बावनी' की रचना सभी अक्षरों के आधार पर की जाती थी उसी प्रकार 'अलिफ़ नामा' की रचना का भी नियम था, संत यारी साहब ने तो अपने एक 'अलिफ़ नामा' के अक्षरों के साथ आरंभ में 'ओंकार' को भी जोड़ दिया है और बतलाया है कि "तीसों अक्षर प्रेम के हैं तथा सबसे बड़ा उपदेश यही है"[4] जिससे जान पड़ता है कि 'ओंकार' को वे उनमें सम्मिलित भी नहीं करते। फिर भी उनके फ़ारसी अक्षर 'अलिफ़' से लेकर 'ये' तक ३१

---

१. 'धरनी दास जी की बानी' (वेलवेडियर प्रेस, इलाहाबाद), पृ० ३४ ४५।

२. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० १ (वे० प्रे०) पृ० २५-६।

३. 'Shanker deva-A study' by Harvehan Des fh 115. 6, also Assamese literature (P. E. N. seris) fh21-2.

४. 'यारी साहब की रत्नावली' (वे० प्रे०), पृ० ६-१२ तु० उसीके पृ० १२-४ भी।

हो जाते जान पड़ते हैं। बाबा धरनीदास[1] ने भी अपने छोटे से 'अलिफ़ नामे' में लगभग उन्हीं का अनुसरण किया है और केवल अन्तिम 'लाम' अलिफ़ को पृथक्-पृथक् कर दिया है। इनमें 'ओंकार' नहीं है।[2] अलिफ़ नामे का ही एक दूसरा नाम 'सीहर्फ़ी' भी है जिसके अनुसार संत बुल्ले-शाह ने अपनी प्रसिद्ध रचना प्रस्तुत की है।[3] इनमें से कोई भी कवि 'पे' और 'चे' का प्रयोग नहीं करता, बाबा धरनीदास 'गाफ़' को भी छोड़ देते हैं और बुल्लेशाह 'काफ' को भी स्थान नहीं देते। यारी साहब का पहला 'अलिफ़ नामा' और बुल्लेशाह की 'सीहर्फी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वर्णमाला के क्रमानुसार कविता करने की परम्परा योरप में भी रही है और अंग्रेज़ी कवि चासर ने, अपनी एक ऐसी ही रचना A.B.C. द्वारा, कुमारी मरियम के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया है और कहा जाता है कि वह रचना भी सं० १३८७ में किसी फ्रेंच साधु द्वारा रचित, किसी कविता के आधार पर है।[4]

बाबा धरनीदास ने एक 'पहाड़ा' द्वारा भी आभ्यंतरिक साधना का वर्णन किया है। बातें पुरानी ही हैं कथन का आधार मात्र भिन्न है। संत गुलाल साहब ने भी एक इसी प्रकार का पहाड़ा लिखा है किन्तु उन्होंने उसे दहाई तक ही न लाकर एकादस के किसी अगम निगम से परे तक पहुँचाया है।[6] इस प्रकार की रचना-पद्धति की ओर अन्य संत ध्यान देते

---

१. 'धरनी दास जी की बानी', पृ० ४५।

२. दे० 'भीखा साहब की शब्दावली' भी पृ० ८६-६०।

३. 'बुल्ला शाह की सीहर्फ़ी' (बम्बई, सं० १६६४), पृ० २-६।

४. L. Lailavoix : Geofary chamch (London) L. 63.

५. 'धरनी दास जी की बानी' (वे० प्रे०) पृ० ४६-७।

६. 'गुलाल साहब की बानी' (वे० प्रे०), पृ० १२८।

नहीं जान पड़ते।[1] परन्तु उन्होंने कालानुसार किए जाने वाली संख्याओं का प्रयोग अवश्य किया है और इस प्रकार कई एक ने सप्त वार पन्द्रह तिथि एवं बारह मासों के आधार पर भी अपनी रचना की हैं। 'गोरखबानी' के देखने से तो पता चलता है कि गुरु गोरखनाथ ने नवग्रहों के अनुसार भी कुछ पंक्तियाँ लिख डाली हैं। गुरु गोरखनाथ वाली रचना में पहले तो सातों वारों के अनुसार साधना सम्बन्धी उपदेश दिया गया प्रतीत होता है, किन्तु अन्त में, यह भी बतलाया गया है कि सप्त वार एवं नवग्रह सभी हमारी काया के ही भीतर अवस्थित हैं। किन्तु क्यों ऐसा कहा गया है इसका कोई कारण स्पष्ट नहीं है। उनकी 'सप्तवार' शीर्षक एक अन्य रचना में केवल योग साधना की विविध बातें ही संक्षिप्त रूप में आई हैं।[3] गुरु गोरखनाथ की कही जाने वाली रचना 'पंद्रह तिथि' का भी वर्ण्य विषय उससे बहुत भिन्न नहीं है। उसकी एक विशेषता यह है कि इसकी पंद्रह तिथियों का आरंभ अमावस्या से किया जाता है, किसी परिवा से नहीं।[4] यही बात हमें संत रज्जबजी की भी 'पन्द्रह तिथि' संज्ञक रचना में दीख पड़ती है जिसमें इतना और भी कह दिया गया है कि "हृदय के भीतर अमावस का अंधेरा था जिसे दूर करने में मेरे गुरु ने सहायता प्रदान की और फिर 'पडवा' के दिन मैंने उसकी ओर अपनी पीठ कर उसे भुला दिया"।[5] इसके अनंतर फिर अपने भीतर होने वाले प्रकाश के क्रमिक विकास का वर्णन बड़े सुन्दर ढंग से किया है और, अन्त में, उसे उसकी षोडश कला वाली स्थिति तक पहुँचा दिया है। सन्त रज्जबजी का

---

१. एक 'पहाडा' 'भीखा साहब की शब्दावली', पृ० ६०-१ पद भी आता है। ले०।

२. 'गोरखबानी' (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, वि० १६६६), पृ० २४४-५

३. वही, पृ० १८४-५।

४. 'गोरख बानी' पृ० १८१-३।

५. 'रज्जाव जी की बाणी' (बम्बई, सं० १६७५), पृ० १२६-३।

'सप्तवार' विषयक पद्य-संग्रह भी अपने ढंग से सरस है।[1] सन्त हरिदास ने तिथियों के सम्बन्ध में दो रचनाएँ निर्मित की हैं। इन में से पहली 'बड़ी तिथि योग' है और दूसरी 'लघु तिथि योग' है और इन दोनों में ही अमावस्या से आरंभ किया गया है। दोनों का विषय भी एक ही है, किन्तु पहली में छः छः पंक्तियों के तथा दूसरी में केवल दो-दो पंक्तियों का सोलह-सोलह पद आए हैं[2]। सहजोबाई ने भी 'सोलह तिथि निर्णय' तथा 'सात वार निर्णय' नामक दो रचनाएँ प्रस्तुत की हैं जो कुंडलिया छंद में हैं। पहली रचना में इन्होंने स्पष्ट शब्दों में, अपने गुरु चरनदास की ही भांति, कह दिया है कि "मैं ज्ञान, भक्ति एवं योग का वर्णन तिथियों द्वारा कर रही हूँ।"[3] इन्होंने भी तिथियों का आरम्भ अमावस्या से ही किया है, किन्तु वारों के वर्णन में रविवार की जगह पहले मंगलवार का प्रयोग किया है। तिथि के सम्बन्ध में लिखी गई एक रचना कबीर साहब की भी मिलती है जो 'आदि ग्रन्थ' में 'थिती' शीर्षक में प्रकाशित हुई है। इसमें भी आरम्भ अमावस से ही किया गया है और इसका भी विषय साधना से ही संबन्ध रखता है।[4] इसी प्रकार कबीर साहब की एक अन्य रचना सप्तवारों के सम्बन्ध में भी मिलती है और यह भी वहाँ रागु गउड़ी के ही अंतर्गत रखी गई है। इसी पद को हम 'कबीर ग्रंथावली' में राग बिलावल, के शीर्षक में पाते हैं।[5] किन्तु किसी में भी हमें शनिवार का नाम आता नहीं दीख पड़ता। इसके सिवाय 'आदि ग्रंथ' में इसका 'रहाउ' भी, 'ग्रंथावली' वाले 'टेक' की भांति, पद की पहली पंक्ति में ही आ गया है। शनि का नाम हमें गोरखनाथ वाली रचना में भी नहीं मिलता। परन्तु एक बात, इस सम्बन्ध में, अवश्य उल्लेखनीय है कि शनि-

---

१. वहीं, पृ० ४८३-४।

२. 'श्रीहरि पुरुषजी की वाणी' (जोधपुर, सं० १९८८), पृ० १२६-३४।

३. 'सहज प्रकाश' (वे० प्रे० प्रयाग सन् १९३०), पृ० ४५-५३।

४. 'आदि ग्रंथ' रागु गउडी, पृ० ३४३-४ (गुरु ग्रंथ साहिबजी)।

५. 'कबीर ग्रंथावली' पद ३६२, पृ० २०८-९।

वार वाली पंक्ति में हमें 'थावर थिर करि' (गो० वा० और क० ग्रं०) 'थावर थकित' (रज्जब० वा०) तथा 'थावर थिर करतार है' (स० प्र०) जैसे प्रयोग भी मिलते हैं जिनसे 'थावर' शब्द में भी किसी रहस्य का होना संभव है।

समय के अनुसार किए गए सन्त-साहित्य की रचनाओं के विभाजनों पर विचार करते समय हमें उपर्युक्त सभी आधारों से अधिक महत्त्वपूर्ण 'बारह मासा वाला जान पड़ता है क्योंकि इसके विषय में हमें अन्य साहित्यों के भी उदाहरण प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। 'बारहमासा' वाली कविताएँ बहुत पहले से ही, ऋतुओं के अनुसार अनुभव में आने वाले बिरहिणियों के विविध बिरहजन्य दुखों का वर्णन करती आ रही हैं और कभी-कभी यह (वर्णन) बारह महीनों के क्रम से न होकर, विभिन्न ऋतुओं का ही अनुसरण करता है। इसलिए, इसे 'ऋतु काव्य' भी कह सकते हैं। परन्तु उपलब्ध लोक साहित्य के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि बारह मासों का सम्बन्ध केवल बिरहिणियों के ही साथ नहीं रहा होगा और जैसा 'डाकेर-वचन' जैसी रचनाओं द्वारा भी सिद्ध किया जा सकता है, इनके द्वारा जनता को परामर्श भी दिए जाते थे। अमुक मास में, अमुक ऋतु के अनुसार, किस प्रकार जीवन व्यतीत करना चाहिए अथवा कैसे रहना चाहिए और क्या करना चाहिए, इसीका सन्देश छोटे-छोटे पद्यों में दिया गया रहता था जिनके बहुत से उदाहरण घाघ की कहावतों में भी मिल सकते हैं। कहते हैं कि 'बारमासी' की रचना जैन कवियों ने भी की है और प्राचीन गुजराती की एक ऐसी ही रचना विकयचंद्र कृत 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' नाम की है जिसमें चौपई छन्दों में ४० कविताएँ हैं और उनमें भी पति विरह का ही काव्यमय वर्णन मिलता है।[१] इसक रचना-काल सन्-१२४४ ई० है।[२]

---

१. मोहनलाल दलीचंद देसाई : जेन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, (बम्बई,-सं० १९८९) पृ० ४२०।

२. अनंतराम म. रावल : 'गुजराती साहित्य' (बम्बई, सं० १९५४ ई०) पृ० ४१।

परन्तु अपभ्रंश की शृङ्गारिक रचनाओं में ऋतु वर्णन के आधार पर बिरह-कथन की परम्परा इसके पहले से ही चली आ रही थी। अब्दुर्रहमान (विक्रमकी ११ वी शताब्दी) ने अपनी रचना 'सन्देश शासक' के तीसरे 'प्रक्रम' के अंतर्गत ग्रीष्म से लेकर वसन्त ऋतु तक का ऐसा ही वर्णन किया है।[1] चन्दकवि की रचना 'पृथ्वीराज रासो' के भी 'कनवज्ज समय' के अन्तर्गत ऐसा वर्णन मिलता है किन्तु वह वसन्त से शिशिर तक चलता है।[2] इसी प्रकार नाल्ह कवि की रचना 'बीसलदेव रास' में जो बारहो मासो की चर्चा की जाती है कार्तिक से आरम्भ होकर आश्विन तक जाती है।[3] सन्त-साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं में इस प्रकार के बारह मासे का स्पष्ट वर्णन कहीं नहीं दीख पड़ता और न ऋतुओं की ही वैसी चर्चा पाई जाती है। रीतिकाल के संधियुग में वर्तमान संतकवि गुरु अर्जुन देव की रचनाओं में हम इसका एक परिचय 'बारहमाहा' के रूपमें पाते हैं जिसमें कवि ने, अपने स्वामी अथवा इष्टदेव के विरह में रहने वाले साधक के सम्बन्ध में, चैत से लेकर फाल्गुन महीने तक का उपदेशात्मक जैसा वर्णन किया है। परन्तु इनके कुछ दिनों पीछे आने वाले सन्त सुन्दरदास की रचना 'बारह मासों' के चैत से फाल्गुन तक के वर्णन में हमें शृङ्गारी कवियों की कथन-शैली से कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता और वह एक साधारण विरहिणी की ही ओर से किया गया जान पड़ता है।[5] सन्त सुन्दरदास ने इसमें न तो किसी आध्यात्मिक साधना का नाम लिया है और न प्रियतम को परमात्मारूप में दर्शाने की चेष्टा ही की है। इन का छन्द भी पवंगम है।

---

१. 'संदेश रासक' (भारतीय विद्याभवन, बंबई, सन् १९४५ ई०) पृ० ५४-८९,
२. 'संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो' (साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, सन् १९५२ ई०), पृ० ८७-९६।
३. 'बिसलदेवरास' (हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग), पृ० ११४-२५।
४. 'आदिग्रंथ' गुरु राकु गुरु ग्रंथसाहिबजी पृ० १३३-६।
५. 'सुन्दर ग्रन्थावली' भाग१, पृ० ३६३-६।

सन्त गुलाल साहब और उनके शिष्य सन्त भीखा साहब ने भी बारह मासे लिखे हैं, किन्तु वे आसाढ़ से लेकर जेठ मास तक चलते हैं।[1] उनकी यह भी विशेषता है कि उन में एक साधक की रहनी का चित्रण किया गया है और इस बात में ये गुरु अर्जुनदेव के बारहमासे भी मिलते हैं सन्त गुलाल साहब के बारहमासे में प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन भी उक्त सभी सन्तों के बारहमासों से अधिक विशद और आकर्षण है। परन्तु बावरी पन्थ के ही एक अन्य सन्त पलटू साहब ने, वर्णन का आरम्भ आसाढ़ से करते हुए भी, उसे सुन्दर दास की भाँति शृङ्गारिक बना दिया है और, यदि इसमें 'सुन्नि मंदिल इक मूरति दरसी' न होता तो, इसमें तथा साधारण नायिका के बिरह वर्णन में कोई अन्तर न रह जाता। इस बारहमासे में भी सन्त-भीखा सहब के बारहमासे जैसा एक टेक लगा हुआ है और यह वैसे ही पद के रूपमें भी हैं। सन्त तुलसी साहब के दो बारहमासे मिलते हैं जिनमें से पहला लावनी छन्द में हैं और आसाढ़ से आरम्भ होता है तथा दूसरा दोहों में है और सावन से चलता है, किन्तु दोनों में ही उन्होंने अपनी भेदपरक बातों का ही समावेश किया है।[3] पहला कुछ अधिक विस्तृत है। सन्त शिवदयाल (राधा स्वामी) का बारहमासा उक्त सभी बारहमासों से बड़ा है और वह उनकी प्रसिद्ध रचना 'सार-वचन' के ५० पृष्ठों तक चला जाता है। इस बारहमासे में न तो विरहिणी नायिकाओं का वर्णन है और न केवल आध्यत्मिक रहनी मात्र का ही प्रसंग है। इसके अन्तर्गत संसारी जीवों की वह पूरी कहानी कही गई है। जिसमें उसके यहाँ माया में फंस जाने से लेकर, गुरुपदेश द्वारा संभल कर, फिर अपते 'घर' पहुँचने के मार्गपर लग जाने

१. 'गुलाल साहब की कहानी' (वे० प्रे०, १९१०), पृ० ८२-६ और भीखा-साहब की शब्दावली' (म० प्रे०, १९७९ ई०). पृ० ४२-३।

२. 'पलटू साहिब' (वे० प्रे०) भाग ३, ७६-७।

३. 'तुलसी' साहबकी शब्दावली' (वे० प्रे०, १९२८), पृ० ५५-८ और पृ० ९७-८।

तक का वर्णन आजाता है और इसमें कहा भी गया है कि यह केवल सत्संगियों के लिए निर्मित है।[1] इस बारहमासे में 'सन्तमत' का संक्षिप्त परिचय आ जाता है और उसके द्वादश कमलों का भी कुछ पता चल जाता है। सन्त शिवदयाल के शिष्य राय बहादुर सन्त सालिगराम ने भी एक 'बारहमासा' लिखा है जो उससे कहीं छोटा है। इसमें 'सुरत' की विरहा—अवस्था तथा गुरूपदेश द्वारा उसकी शब्द की ओर उन्मुख होकर यात्रा करने का विषय प्रमुख है[2]। ये दोनों अन्तिम बारहमासे भी आसाढ़ के महीने से ही आरम्भ किए जाते हैं और जेठ तक चलते हैं।

३. अष्टपदी आदि

सन्तों की रचनाएँ कभी कभी अपने पदों की संख्या के आधार पर भी विभाजित की गई दीख पड़ती है। फिर भी, अर्थात् इस नियम के अनुसार दुपदी, अष्टपदी, चौपदी, बारहपदी आदि कहलाने पर भी उनके पदों की संख्या सदा ठीक ठीक नहीं पाई जाती। उदाहरण के लिए कबीर साहब की 'रमैणी' नामक रचनाओं का नाम, 'कबीर ग्रन्थावली' के अन्तर्गत सतपदी, बड़ी अष्टपदी, दुपदी, अष्टपदी, बारहपदी तथा चौपदी दिया गया दीख पड़ता है[3] किन्तु इन में से किसी में भी उक्त नियम का ठीक अनुसरण किया गया नहीं जान पड़ता। इन्हें यदि केवल दोहों-चौपाइयों का संग्रह मात्र कहा जाय तो उचित होगा, यद्यपि उस दशा में भी किसी निश्चित क्रम का अभाव ही मिलेगा यही बात हमें सन्तबानियों के प्रसिद्ध संग्रह 'आदि ग्रन्थ' में भी देखने को मिलती है जहाँ 'असटपदीआ' नामक रचनाओं के निर्माता गुरु नानक, गुरु रामदास, गुरु अमरदास तथा गुरु

---

१. 'सार वचन छन्द वन्द' (कलकत्ता, १६४८ ई०), दूसरा भाग पृ० ३५३-४०२।

२. 'प्रेमबानी' (स्वामी बाग, आगरा सन् १६४६), पृ० ३४१-७।

३. 'कबीर ग्रंथावली', पृ० २२५-४५।

अर्जुनदेव दिखलाए गए हैं।[1] किन्तु वहाँ भी सर्वत्र नियम का पालन नहीं है निरंजनी संप्रदाय के प्रमुख प्रचारक सन्त हरिदास ने 'बारहपदी' चतुर्दशपदी, 'तीसपदी' एवं 'चालीस पदी' तक के 'योगों' की रचना की है, किन्तु वहाँ भी हम यही बात पाते हैं।[2] चालीसपदी वस्तुतः एकतालीस द्विपदियों का संग्रह है और बारहपदी एवं चतुर्दशपदी की पंक्तियाँ, उनके पदों की संख्या ठीक होने पर भी, अनियमित बन गई हैं, केवल तीसपदी की द्विपदियों की ही संख्या वास्तव में, तीस कही जा सकती है। इस प्रकार सन्तों ने अपनी रचनाओं को वार, तिथि, मास अथवा पदों की संख्या तक के क्रमानुसार प्रस्तुत करते समय, किसी सामान्य नियम का पालन करना, कदाचित् आवश्यक नहीं समझा है, या कम से कम उन्होंने इस ओर पूरा ध्यान ही नहीं दिया है।

४. लोकगीत

बारहमासे के प्रसंग में हमने देखा है कि, सन्तसाहित्य के अन्तर्गत, महीनों के अनुसार कहते समय, ऋतुपरक वर्णन भी किए गए मिलते है। विभिन्न ऋतुओं के आधार पर कई रागों की सृष्टि हुई है और लोकगीत भी गाए जाते हैं। सन्तों की रचनाओं में इन दोनों दृष्टियों से की गई कविताएँ प्रचुर मात्राओं में उपलब्ध हैं और यहाँ पर भी ऐसे बहुत कम आए हैं जहाँ किन्हीं निश्चित नियमों का पालन किया गया है। जैसा पहले भी कहा जा चुका है, संत-साहित्य की पदोंवाली रचनाओं को रागानुसार विभाजित करने की प्रणाली पहले बहुत लोकप्रिय थी किन्तु जान पड़ता है कि, विक्रम की अठारवीं शताब्दी के लगभग से, इसे संग्रह-

---

१. 'आदि-ग्रंथ' सिरी रागु (पृ० ५२६३), (पृ० ६३-८), (पृ० ६६-७०) व रागुमाझु (पृ० १२६) आदि।

२. 'श्री हरि पुरुषजी की वाणी' (पृ० १४-५३), (पृ० १३६-४५), (पृ० १४६-६) आदि (पृ० १३४-६)।

कर्त्ताओं ने अपनाना कम कर दिया। इसका स्थान अधिकतर लोकगीतों के आदर्श से लिया और, इसीलिए, हम देखते हैं कि सन्त तुलसीसाहब के समय तक आते आते, चलते गाने तक लिखे जाने लगे तथा सन्त-साहित्य के अन्तर्गत बहुत-सी रचनाएँ उन तर्ज़ों पर निर्मित की गई भी दीख पड़ने लगी जो प्रधानतः मुस्लिम पद्धति की थी, इसका कारण यह हो सकता है कि एक तो मुग़ल सम्राटों तथा नवाबों के दरबारों में उक्त प्रकार के गानों को प्रश्रय दिया जाने लगा था और वे क्रमशः अधिक से अधिक लोकप्रिय होती जा रही थी, दूसरे सन्तों में कुछ व्यक्ति ऐसे भी हुए जिनका विशेष सम्पर्क सूफ़ियों के साथ रह चुका था और जो उनके यहाँ के गानों से भी प्रभावित थे। कभी कभी तो सन्तों के वर्ग में वे लोग भी सम्मिलित होते गए जो अपने प्रारम्भिक जीवन में स्वयं सूफ़ी थे। सन्त बुल्लेशाह और दीनदरवेश आदि की गणना इन्हीं में की जा सकती है।

ऋतुओं के अनुसार गाए जानेवाले लोकगीतों में वसन्त फाग, होली, चाचर, सावन, हिण्डोला, आदि के नाम लिए जा सकते हैं। इनमें बसन्त, फाग, होली और चाचर का सम्बन्ध बसन्त ऋतु से है और सावन एवं हिण्डोला का पावस वा वर्षा ऋतु के साथ। 'बसन्त' कही गई कविताओं को प्रायः रागु वसन्त वाले गीतों में भी सम्मिलित कर लिया जाता है जो, कदाचित्, अनुचित भी नहीं है।[1] फाग वा फागु नामक गीतों की परम्परा भी प्राचीन जान पड़ती है और कहा जाता है कि इसके रूप भी रह चुके हैं जिन में से एक का सम्बन्ध शृङ्गारिक रचनाओं का और दूसरे का शान्त-रस परक भजनों के साथ तथा सन्तों ने इनमें से दूसरे को ही अधिक अपनाया है। यह दूसरी धारा कदाचित् अपभ्रंश में कविता करनेवाले जैनमुनियों के ही समय से चली आती है और उनकी पूरी पुस्तक भी फागु कहलाती रही है। इस प्रकार की एक रचना 'सूलिभद्द फागु' के नाम से प्रसिद्ध है जिसके रचयिता पद्मसुरी का समय सं० १३८६-१४०० बतलाया

१. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० २०२।

जाता है। श्री अगरचन्द नाहटा के अनुसार इससे भी प्राचीन फागु काव्यवाली रचना वह 'जिनचन्द्रसूरि फाग' है जो जैसलमेर के जैन भण्डार से मिली है। ये फाग वाली रचनाएँ पहले कदाचित्, दृश्यकाव्यों के रूप में हुआ करती थीं किन्तु जैन कवियों ने इस नाम का प्रयोग पीछे चरित-काव्यों के लिए भी किया और फिर क्रमशः इस नाम से फुटकर कविताएँ भी होने लगीं जिनमें वसन्त ऋतु के उल्लास के व्याज से इनमें अनेक अन्य बातों का भी समावेश होता चला गया तथा यही वसन्त, होली, धमार आदि में भी परिवर्तित हो गया। सन्तों की ऐसी रचनाएँ कभी कभी अपनी आध्यात्मिक गम्भीरता का परित्याग कर, उपहास एवं व्यंग के आधार पर, साधारण आलोचनात्मक प्रसंगों में प्रवृत्त हो जाती हैं। चांचर, चाचरी वा चर्चरी नामक रचनाओं का भी सम्बन्ध वसन्तोत्सवों से ही जान पड़ता है। इस नामकी रचनाएँ अपभ्रंश साहित्य में उतनी अधिक संख्या में नहीं पाई जातीं और इनमें भी केवल जिनदत्त सूरि की 'चच्चरी' नामक रचना, विशेष प्रसिद्ध है। 'कबीर-बीजक में दो 'चाचर' नामक पद्य आए हैं[1] और सन्त तुलसी साहब ने भी तीन 'चाचरी' संज्ञक रचनाएँ लिखी हैं। इनमें 'टेक' भी आए हैं। सन्त तुलसी साहब की एक रचना 'चाचरी ख्याल' नाम से भी मिलती है[2] जिसकी शैली में कुछ अन्तर आगया जान पड़ता है। इनकी होली नामक रचनाओं को भी कभी केवल उतना ही मात्र कहा गया है तो कभी 'होली मारफत', 'होली-दीपचन्दी' तथा 'होली तिल्लाना' भी कह दिया गया है[3] किन्तु इस रचना-शैली का अनुसरण अन्य सन्त कवि करते नहीं दीख पड़ते।

वर्षा ऋतु के आधार पर की जाने वाली 'हिण्डोला' तथा 'सावन' संज्ञक रचनाओं की भी सन्त-साहित्य में कमी नहीं दीखती। 'कबीर बीजक' में ही हिण्डोला नामक तीन रचनाएँ आती हैं और सन्त गुलाल साहब ने

---

१. कबीर बीजक (हरक संस्करण) पृ० ६०-१।

२. तुलसी साहब की शब्दावली भाग १ पृ० १०१।

३. वही, भाग २ पृ० १६५-२०१।

तो एक ही साथ इन्हें दस तक की संख्या में रच डाला है।[1] इसके सिवाय इनकी एक रचना हमें 'बारहमासी हिण्डोला' नाम की भी मिलती है जो वास्तव में, 'चतुर्मासी' वा चौमासी' ही कहलाने योग्य है, क्योंकि इसके अन्तर्गत आसाढ़ से लेकर कुआर तक के केवल चार महीनों के ही नाम आए हैं।[2] सन्त भीखा साहब ने इस 'हिण्डोला' नाम को ही 'हिण्डोलना' कर डाला है और उसके अन्तर्गत चार ऐसे पद्य रचे हैं।[3] सन्त तुलसी साहब ने 'हिंडोला' एवं 'हिंडोला पाज' नामक दो भिन्न भिन्न शीर्षकों के प्रयोग किए हैं[4] और 'सावन' के अनुसार भी अन्यत्र लिखा है।[5] 'हिंडोला' का नाम आने से हमें 'झूलना' शब्द का भी स्मरण हो आता है जिसके आधार पर भी सन्तों की अनेक रचनाएँ निर्मित की गई पायी जाती हैं। झूलनों के रचयिता कबीर साहब भी कहे जाते हैं और उनकी ऐसी २५ कविताओं का संग्रह वेलवेडियर प्रेस द्वारा प्रकाशित हुआ है।[6] इसी प्रकार ऐसी रचनाएँ यारी साहब, तुलसी साहब आदि की कृतियों के भी संग्रहों में पायी जाती हैं। यारी साहब के झूलणे तो केवल १८ की संख्या में ही दीख पड़ते हैं; तुलसी साहब की ऐसी रचनाएँ २५ हैं[8] और पलटू साहब ६८ तक के झूलनों के रचयिता हैं।[9] परन्तु हिंडोले और झूलने एक और अभिन्न नहीं हैं, क्योंकि पहले जहाँ किसी गान की ओर संकेत करते हैं वहाँ

---

१. 'गुलाल साहब की बानी' पृ० ७५–८१।

२. 'गुलाल साहब की बानी' पृ० ७४–५।

३. 'भीखा साहब की शब्दावली' पृ० ४४–६।

४. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० २ पृ० २५१-४।

५. वही, भा० १, पृ० ६४-७।

६. 'कबीर साहब की ज्ञानगूदड़ी', आदि (वे० प्रे०), पृ० ५२–६२।

७. 'यारी साहब की रत्नावली' पृ० १७–२१।

८. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० १ पृ० ४४-८।

९. पलटू साहब की बानी (वे० प्रे०) भा० २ पृ० ४६-७५।

दूसरे एक छन्द विशेष के द्योतक हैं और इसके भी कम से कम तीन प्रकार माने जाते हैं। हिंडोला वा हिंडोलना का मूलस्रोत, कदाचित्, राग हिंडोल नामक संगीत का एक राग है जो एक विशेष लय और ताल के साथ गाया जाता है। परन्तु झूलने के विषय में कहा गया है कि 'प्रथम झूलना' २६ मात्राओं का एक छन्द है जिसके अन्त में क्रमशः गुरु और लघु होते हैं, 'द्वितीय झूलने' में ३७ मात्राएँ होती हैं और अन्त में 'मगण' आता है और 'तीसरे झूलने' की विशेषता यह है कि इसमें चार की जगह केवल दो ही पंक्तियाँ रहती हैं।[1]

जिस प्रकार हिंडोला और झूलना के विषय में, दोनों के अर्थ साहचर्य के कारण, भ्रम हो जाता है, उसी प्रकार, 'कहरा' और 'ककहरा' के भी उच्चारण साम्य के कारण, प्रायः भूल हो जाया करती है और हम एक को दूसरे का पर्याय मान बैठते हैं। वास्तव में इन दोनों शब्दों के बीच महान् अन्तर है। ककहरा के सम्बन्ध में चर्चा करते समय हम देख चुके हैं कि वह वस्तुतः व्यंजनों के क्रमानुसार पद रचना करने की एक शैली मात्र है। जिसके अनुसार 'क' से लेकर 'ह' अथवा कभी कभी 'छ' वा 'त्र', तक के व्यंजनों से क्रमशः आरंभ करके, पद्यों वा पद्यांशों की पंक्तियाँ लिखी जाती हैं। किन्तु 'कहरा' एक लोकगीत का रूप है जिसका रूपान्तर कभी कभी 'कहरवा' भी बन जाया करता है। 'कबीर बीजक' में हमें १२ कहरे दीख पड़ते हैं जिनमें से ८ वाँ तथा १२ वाँ 'कबीर ग्रन्थावली' में भी क्रमशः ३६६ वें पद एवं १८७ वें पद के रूप में, केवल कुछ ही पाठ भेद के साथ पाए जाते हैं।[3] इसी प्रकार 'आदि ग्रन्थ' के रागु बिलावल के भी पहले पद

---

१. जगन्नाथ प्रसाद 'भानु': छन्द प्रभाकर' (जगन्नाथ प्रेस, बिलासपुर, सं० १९७२), पृ० ७१ और पृ० ८९।

२. 'कबीर बीजक' (हरक संस्करण), पृ० ७४-९।

३. 'कबीर ग्रन्थावली' पृ० २१० और पृ० १५१।

को हम कहरा ही कह सकते हैं।[1] सन्त तुलसी साहब ने तो जो कहरवे दिए हैं उनमें सिवाय पंक्तियों के अन्त में जोड़े गए 'वा' और 'या' के और कोई वैसी विशेषता दीख नहीं पड़ती। सन्तों के 'कहरों' का कहरवों के सम्बन्ध में किसी सामान्य नियम का ढूँढ निकालना कठिन जान पड़ता है। छन्दो-नियमानुसार इसमें ३० मात्राएँ होनी चाहिए और क्रमशः १६ एवं १४ पर विराम होना चाहिए, किन्तु इसकी रचना में सबसे प्रमुख बात लय ही समझ पड़ती है।

कबीर साहब वाले 'बीजक' में एक अन्य लोकगीत 'वेलि' नाम से भी आया है जिसकी प्रत्येक पंक्ति के अन्त में 'हो रमैया राम' जोड़ा गया दीख पड़ता है और जिसकी रचना शैली से जान पड़ता है कि यह चेतावनी के लिए अधिक उपयुक्त है।[3] किन्तु सन्त दादूदयाल ने जो एक रचना 'कायावेलि' के नाम से निर्मित की है वह कुछ दूसरे ढंग की जान पड़ती है।[4] उसमें काया को वेली नामक काव्य प्रकार के माध्यम से वर्णन करके उसे ब्रह्मांड की सभी वस्तुओं का आधार बतलाया गया है और कहा गया है कि, यदि गुरु की कृपा हो जाए तो हम सारी वस्तुओं का सार उसी में प्रत्यक्ष कर सकते हैं। परन्तु इस वेली को राग सूहौ के अन्तर्गत रखा गया है। 'वेलि' नाम से काव्य प्रकार के कुछ उदाहरण राजस्थानी साहित्य में भी दीख पड़ते हैं जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'बेलिक्रिसन रुकमिणी री' है। किन्तु उस रचना के प्रायः अन्त में यह भी कहा गया मिलता है "यह वेलि (वल्ली लता) ऐसी है जिसका बीज (मूलस्रोत) 'श्रीमद्भागवत' ग्रन्थ है और यह कवि पृथ्वीराज के मुख वाले आँवले में बोया गया"[5] इत्यादि, जिससे

---

१. 'आदि ग्रन्थ', पृ० ८५५ (इसकी लय तथा अंतिम शब्द उल्लेखनीय हैं)।

२. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० २ पृ० २४८-९।

३. 'कबीर बीजक', पृ० ८७-८।

४. 'दादूदयाल जी की वाणी' (जयपुर, १९५१ ई०), पृ० ६३८-५७।

५. 'बेलि क्रिसन रुकमणीरी' (हिन्दुस्तानी एकेडेमी, यू. पी. १९३१ ई.) पृ० २६५।

अनुमान होता है कि इस 'वेलि' शब्द का भी अर्थ मूलतः यही रहा होगा। फिर भी यह बात न तो 'कबीर बीजक' वाले उक्त दोनों पदों द्वारा ध्वनित होती है और न सन्त दादूदयाल की रचना से ही इस पर प्रकाश पड़ता है। जान पड़ता है कि अन्य सन्तों का ध्यान इस काव्य प्रकार को अपनाने की ओर नहीं गया है।

'कबीर बीजक' में एक ऐसी ही पद्य रचना 'विरहुली' के नाम से की गई भी पायी जाती है। स्व० शिवव्रतलाल बर्मन ने अपने संपादित 'बीजक' के संस्करण में इसे 'पूरब में गाया जाने वाला एक राग' कहा है।[1] किन्तु इस प्रकार का कोई राग इस ओर प्रचलित नहीं है। 'विरहुली' शब्द का कुछ सम्बन्ध 'विरह' शब्द के साथ भी जान पड़ता है और उस दशा में यह कदाचित् विरहिणी के लिए प्रयुक्त हुआ हो। किन्तु इस रचना की कुछ पंक्तियों में 'बेतल सांप' के डसने तथा उसके विष के साधारण मन्त्रों द्वारा उतर न सकने की भी चर्चा की गई है जिसके कारण यह भी अनुमान किया जाता है कि इस नाम की कोई मन्त्र-विद्या भी रही होगी। किन्तु इसके लिए कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया जाता और सभी बातों पर विचार करके इसे केवल किसी अप्रचलित लोकगीत का ही एक उदाहरण मान लेने की प्रवृत्ति होती है। 'विरहुली' शब्द का प्रयोग इस रचना के अन्तर्गत बार बार आया है और यह जीवात्मा को सूचित करता है जिसे परमात्मा का वियोग अत्यन्त कष्टदायक जान पड़ता है और जिसको सम्बोधित करके सृष्टि एवं मायादि के सम्बन्ध में कुछ बातें बतलायी गई हैं।[2] 'कबीर बीजक' का ही एक अन्य विचित्र काव्य प्रकार 'विप्रमतीसी' नाम का है जिसका प्रमुख उद्देश्य ब्राह्मणों को चेतावनी देना मात्र है।[3] वास्तव में यह कोई विशिष्ट काव्य प्रकार भी नहीं जान पड़ता, किन्तु इस रचना की शैली-विशेष के

---

१. 'बीजक' भा० ३ पृ० १५१।

२. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० २०६।

३. 'कबीर बीजक' (हरक संस्करण), पृ० ७२-३।

कारण यह उल्लेखनीय है। इस काव्य रूप के अन्य उदाहरण भी नहीं पाए जाते और अभी तक केवल एक मिला है जो कदाचित् इसी का अनुकरण भी हो। वह परशुरामदेव द्वारा सं० १६६७ में निर्मित रचना है जिसकी अधिकांश बातें ठीक इसी के समान हैं। इस पद्य रचना में ३० अर्द्धालियाँ हैं और अन्त में एक दोहा वा साखी को देकर इसे समाप्त कर दिया गया है। अतएव, 'विप्रमतीसी' शब्द के अंतिम अंश 'तीसी' को संख्या सूचक मान कर यदि हम विचार करने लगें तो पता चलेगा कि या तो उसके पहले का 'म' है अथवा इसके अनंतर के 'नि' का लोप हो गया है।

५. गोष्ठी, बोध आदि

सन्त-साहित्य की साम्प्रदायिक रचनाओं में बहुत सी 'गोष्ठी' और 'बोध' जैसे शब्द जोड़ कर बनाए गए नामों से भी प्रसिद्ध हैं। इनमें अधिकतर दो व्यक्तियों के बीच वार्तालाप करा कर उसके द्वारा कुछ साम्प्रदायिक बातें बतलायी गई रहा करती हैं। ऐसी रचनाएँ कबीर पन्थ, साहेब पन्थ, दरिया पन्थ आदि के साहित्यों में प्रचुर मात्रा में पायी जाती हैं और इनमें कोई वैसी विशेषता नहीं। सन्त-साहित्य में कुछ रचनाओं के नाम 'बणजारा', 'व्याहलो'[1] जैसे भी मिलते हैं और उनमें नामानुसार प्रसंगों का वर्णन करते हुए, अनेक प्रकार की आध्यात्मिक बातें बतलायी गई रहती हैं। इसके सिवाय कुछ ऐसी रचनाएँ भी दीख पड़ती हैं जो 'स्तुति', 'आरती' 'सहस्र नाम' आदि कहलाती हैं। इन पर सगुणोपासना का प्रभाव स्पष्ट है और ऐसी रचनाओं की संख्या में अधिक वृद्धि उस काल से ही होने लगी है जब से साम्प्रदायिकता का प्रचार हुआ है तथा जब से भक्त कवियों का विशेष अनुकरण भी होने लगा है उस समय से इस साहित्य में ऐसी भी रचनाएँ आ गई हैं जिनका प्रमुख उद्देश्य कबीरादि को परमात्म स्वरूप मान कर उसके सहारे पौराणिक चरित्रादि की कल्पना करनी हो और जिनकी

---

१. श्री हरिपुरुष जी की वाणी पृ० १११-४।

रचना प्रधानतः पुराणों की शैली में की गई हो। इनमें सृष्टिविषयक बातों की विस्तृत चर्चा मिलती है जिसमें प्रायः ब्रह्मादि देवताओं की कल्पित कथाएँ भी सम्मिलित रहा करती हैं और उसमें ऐसे चमत्कार पूर्ण प्रसंग भी रहा करते हैं जिनमें कबीरादि सन्तों की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई रहती है। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस प्रकार की रचनाओं पर बौद्ध-धर्म के साम्प्रदायिक ग्रन्थों का भी बहुत प्रभाव पड़ा है।

६. रमैणी

रागसूहौ के अन्तर्गत निर्मित सन्त दादूदयाल की रचना 'कायावेलि' का उल्लेख इसके पहले किया जा चुका है। 'कबीर ग्रन्थावली' में हमें उसी प्रकार रागसूहौ में दी गई एक रचना कबीर साहब की भी मिलती है जिसका नाम 'रमैणी' है। यह पूरी रचना उस संग्रह ग्रन्थ के २२३ वें पृष्ठ से लेकर २४५ वें पृष्ठ तक चलती है और इसी के अन्तर्गत वे 'सतपदी', 'बड़ी अष्टपदी', 'दुपदी', 'अष्टपदी', 'बारह पदी' एवं 'चौपदी' नामक छः रचनाएँ भी आती हैं जिनकी चर्चा इसके पहले की जा चुकी है। 'काया वेलि' वाली रचना का आरंभ जिस 'टेक' से होता है वह केवल एक ही पंक्ति का है और वह सीधे वर्ण्य विषय का संकेत करता है, किन्तु 'रमैणी' वाली रचना के आरंभ वाला 'टेक' चार पंक्तियों का है जिसमें परमात्मा की वंदना की गई है और वह प्रशंसात्मक भी है। 'कायावेलि वाली रचना में कुल आठ पद्य हैं जिनमें अधिकांश बारह पदों वाले हैं, किन्तु 'रमैणी' में उपर्युक्त 'सतपदी' आदि छः के अतिरिक्त उसके आरंभ में एक पद्य, भूमिका रूप में भी आता है जिसमें काजी आदि की आलोचना की गई है। इसके सिवाय 'कायावेलि' की पंक्तियाँ चौपाई की अर्द्धालियों के रूप में हैं और उनके अन्त में एक साखी आती है, किन्तु 'रमैणी' वाली रचना की वैसी ही अर्द्धालियों के बीच बीच में भी साखियाँ आती रहती हैं और अर्द्धालियों की संख्या भी कभी निश्चित नहीं रहती। 'कायावेलि' में केवल एक ही

विषय का वर्णन किया गया है, किन्तु रमैणी में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, सांसारिक विडम्बना भक्ति एवं उपदेश की भी पंक्तियाँ आती हैं।

कबीर साहब की रचनाओं में रमैनियों का भी महत्व कम नहीं है और उन्हें 'कबीर बीजक' में सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। किन्तु कभी कभी उनके कबीर रचित होने में संदेह भी किया जाता है और कहा जाता है कि इस प्रकार का काव्य-प्रकार पुराना नहीं कहा जा सकता। 'कबीर बीजक' और 'कबीर ग्रन्थावली' में रमैनियाँ आती हैं, किन्तु 'आदि ग्रन्थ' के अन्तर्गत इस नाम की कोई भी रचना नहीं दीख पड़ती। 'रमैनी' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुए कहा गया है कि यह किसी 'रामणी' शब्द का रूपान्तर है और इसका विषय "जीवात्मा की संसरणादिक क्रीडाओं का सविस्तर वर्णन है" किन्तु यह कथन ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि एक तो 'रामणी' से 'रमैनी' हो जाना स्वाभाविक नहीं है दूसरे इससे इसके विषय को भी सीमित कर देते हैं। इससे अधिक संभव तो यह कहा जा सकता है कि 'रामायण' शब्द से 'रमैन' बन कर फिर उससे अल्पत्व बोध कराने के लिए 'रमैनी' हो गया होगा। 'कबीर बीजक' को यदि कबीर साहब की प्रामाणिक रचनाओं का संग्रह माना जाए तो यह भी कहा जा सकता है कि उनके पहले से भी इस नाम के पद्यों की रचना होती आ रही थी और उसका उद्देश्य स्तुति वर्णन एवं उपदेश-प्रदान भी हुआ करता था।[२] इसके सिवाय यह भी पता चलता है कि इस नाम के पद्यों की रचना परोपकार के उद्देश्य से भी होती थी और स्वयं कबीर साहब ने भी अनेक रमैनियाँ कही थी।[3] कबीर साहब के 'रमैनी' की रचना करने का प्रमाण 'भक्तमाल' की पंक्तियों द्वारा भी दिया जा सकता है जहाँ भक्त नाभादास (सं० १६४२)

---

१. 'कबीर साहब का बीजक' (सं. विचारदास, सं० १६८३) पृ. २८६-६०।

२. 'कबीर बीजक' रमैनी ४, पृ. २ और रमैनी ५१, पृ. १७ तथा साखी २८८ पृ. ११८।

३. 'हिन्दुस्तानी' (प्रयाग) भा० २, अं० ४, पृ. ३७१।

ने कहा है—

"हिन्दु तुरक प्रमान रमैनी सबदी साखी ।
पच्छपात नहिं वचन सबहि के हित को भाखी ।।"[1] (छप्पय ६१)

अर्थात् कबीर साहब ने हिन्दु मुसल्मान सब किसी के लिए रमैनी सबदी (शब्द=पद)[2] एवं साखी की रचना, निष्पक्ष भाव के साथ, की थी । रमैनियों की रचना दोहों और चौपाइयों में की गई रहती है और इसकी शैली भी वर्णनात्मक हुआ करती है । इसकी भी परम्परा का लगाव अपभ्रंश साहित्य से ही है । जिसमें काव्य रचना की एक पद्धति विशेष 'कडवकवद्ध' पद्यों की प्रसिद्ध थी । उसमें साधारणतः पहले पज्झटिका वा अरिल्ल छंद की पंक्तियाँ रहा करती थीं और फिर उनके पीछे 'घत्ता' भी दे दिया जाता था । प्रत्येक 'कडवूक' प्रायः आठ 'यमकों' का हुआ करता था । जिनमें से प्रत्येक में दो दो पद होते थे जो 'पद्धडियाबद्ध' भी, कहलाते थे । चौपाइयों के अधिक प्रयोग में आने लगने के पहले इसी का विशेष प्रचार था जैसा कि अपभ्रंश की कई रचनाओं द्वारा भी पता चल जाता है । स्वयंभू कवि की अपभ्रंश रचना 'पउम चरिउ' (पद्मचरित=रामायण) के अंतर्गत भी घत्ता वाले क्रम का प्रयोग प्रायः इसी रूप में दीख पड़ता है । रमैनी में जहाँ चौपाइयाँ आती हैं वहाँ 'कडवकवद्ध' रचा में अरिल्ल रहा करते थे और इसके दोहे व साखी का स्थान धता को दिया जाता था । किसी वस्तु व घटना का केवल एक ही छंद के प्रयोग द्वारा वर्णन करते समय बीच-बीच में एक अन्य छंद के प्रयोग से विश्राम लेते चलना दोनों की ही विशेषता है और, इसी कारण, इस रचना पद्धति का प्रयोग विशेषकर लम्बी-लम्बी कथाओं में ही देखा जाता है । सिद्ध सरहपा के 'दोहाकोष' में आरंभ से ही

---

१. भक्तमाल (नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ), पृ० १४२ ।

२. 'सबदी' शब्द का प्रयोग उन रचनाओं के लिए भी किया गया मिलता है जो 'गोरख बानी' में साखियों जैसी दीख पड़ती हैं ।—ले० ।

चौपाइयों का प्रयोग दीख पड़ता है और उनके बीच में दोहे भी आये हैं किन्तु वहाँ न तो इस क्रम के रखने में कोई नियम का पालन जान पड़ता है और न उसमें कोई कथा ही कही गयी है अथवा अन्य वैसा विवरण है।[1] गुरु गोरखनाथ की समझी जाने वाली 'प्राण संकली' में भी चौपाई छंद का प्रयोग किया गया है, किन्तु वहाँ पर दोहे नहीं दीख पड़ते।[2] मुल्ला दाऊद की प्रेमगाथा 'नूरक चंदा' (लोरक चंदा) अथवा चंद्रायन का रचनाकाल हि० सन् ७८१ (सं० १४३६) समझा जाता है उसकी इधर हाल की उपलब्ध अधूरी हस्तलिखित प्रतियों से भी प्रतीत होता है कि वहाँ पर भी दोहे चौपाई ही क्रमबद्ध किये गए हैं।[3] परन्तु जहाँ तक पता है, ऐसी रचना को 'रमैणी' का नाम देना सर्वप्रथम 'कबीर बीजक' में ही दीख पड़ता है।

७. साखी

'रमैणी' में आने वाले दोहा छन्द का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से भी किया गया मिलता है और संत-साहित्य में दोहे को साखी भी कहा गया है। 'साखी' शब्द 'साक्षी' का अन्यतम रूप है। जिसका अर्थ किसी प्रत्यक्ष प्रमाण के लिए लगाया जाता है। साक्षी वह पुरुष है जिसने किसी वस्तु व घटना को स्वयं अपनी आँखों से देखा है अथवा किसी बात का अनुभव किया है और इसीलिए, उसके कथन को प्रामाणिक माना जाता है तथा उद्धृत भी किया जाता है। सिद्ध कण्हपा ने अपनी एक चर्चा में बतलाया है। "अब मैं आवागमन से मुक्त हो गया हूँ। जिस बात के साक्षी रूप में मैं (इस दशा से स्वयं भली भाँति परिचित अपने गुरु जालन्धरपा की दुहाई देता हूँ। साधारण पण्डित मेरी इस पाश से मुक्त दशा के रहस्य को नहीं समझ

१. 'दोहाकोष' (Calcutta Sanskrit Series) Part I 1938 PP. 14-39.

२. 'गोरख बानी' पृ० १६४–८।

३. 'कबीर साहित्य की परख', पृ० १६५।

सकते।"[1] इस प्रकार 'साखी' शब्द आप्त पुरुष का बोध कराता है। और जान पड़ता है कि, इसी प्रयोग में आते-आते पीछे यह आप्त वचन का भी अर्थ देने लगा है। सिद्ध सरहपा के दोहाकोष की एक ऐसी रचना से पता चलता है कि उनके समय में इसे, कदाचित् उपदेश के अर्थ में भी, प्रयोग करते थे।[2] कबीर बीजक में तो साखी के लिए कहा गया है कि "यह ज्ञान चक्षु के समान है और समझ लो कि बिना साखी के भवबन्धन नहीं छूट सकता।[3] जान पड़ता है 'साखी' शब्द का ऐसा प्रयोग तथा साखियों का निर्माण कबीर साहब के पहले से भी होता आ रहा था क्योंकि 'कबीर ग्रन्थावली, में संग्रहीत उनकी कई ऐसी रचनाओं से भी प्रकट होता है कि लोग उन दिनों साखियाँ कहा करते थे।[4] कबीर साहब ने तो यहाँ तक कहा है कि "हरिजी ने मुझे यही विचार कर साखी कहने का आदेश दिया कि जो लोग भवसागर में मग्न हैं वे इनके द्वारा पार लग जायेंगे।"[5]

परन्तु संत-साहित्य के अन्तर्गत जो पद्य साखियों के नाम से आते हैं वे सभी दोहा छन्द में ती रचे गये नहीं पाये जाते। स्वयं कबीर साहब की साखियों में हम देखते हैं की उनमें बहुत से दोहे, चौपाई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता, सार तथा छप्पै जैसे छन्द भी आ गए हैं। जिसका कारण 'साखी' शब्द को दोहा का पर्याय मान लेना ठीक नहीं है। गो० तुलसीदास ने तो अपने एक दोहे द्वारा, 'साखी', 'सबदी', एवं 'दोहरे' को एक दूसरे से

---

१. Old Bengali Tests (चर्यागीति कोष) चर्या २४, पृ० १४।

२. "तहि बढ़ चित्र विसाम करु सरहे कहिअउएस"–दोहाकोष, २५।

३. कबीर बीजक' सा० ३५३, पृ०३८।

४. 'कबीर ग्रंथावली' सा० ४ (पृ० ३८) सा० ६ (पृ० ५५) और सा०६६,– (पृ० १२) आदि।

"हरिजी चहे विचारिया, साषी कहौ कबीर।
भौसागर में जीव हैं। जे कोई पकड़े तीर ॥१॥ क० ग्रं० पृ० ५६।

पृथक्-पृथक् मान कर उनके कहने वालों की आलोचना की है।[1] इनमें से साखियों की रचना सन्त कवि करते थे, सबदियों का निर्माण नाथ-पन्थियों के यहाँ होता था और दोहरे सूफ़ी लोग लिखा करते थे। सूफ़ियों के ऐसे बहुत से दोहरे मिलते हैं[2] और नाथपन्थियों की सबदियाँ भी पाई जाती हैं।[3] गो० तुलसीदास ने 'कहिनी उपाख्यान' के द्वारा सूफ़ियों की उन रचनाओं की ओर भी संकेत कर दिया है जो प्रेमगाथा कहला कर प्रसिद्ध हैं। साखियों, सबदियों एवं दोहरों में उनके वर्ण्य विषय के अनुसार कोई विशेष अन्तर नहीं दीख पड़ता। 'दोहा' छन्द अपभ्रंश के कवियों को बहुत प्रिय रहा है और वे इसका प्रयोग उसी प्रकार किया करते थे जैसे संस्कृत कवि 'श्लोक' वा अनुष्टुप छन्द का और प्राकृत कवि 'गाथा' का। अपभ्रंश एवं राजस्थानी में दोहे का नाम 'दूहा' भी दीख पड़ता है और इसका सर्वप्रथम उदाहरण कदाचित् कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक में मिलता है जो उसके चतुर्थ अंक में इस प्रकार आया है।

"मइ जाणिऊ मिअलोअणी, णिसअरु कोई हरेइ।
जावणु णवतलि सामल, धाराहरु वीर सेइ ॥८॥"

और इसका प्रयोग फिर बौद्ध सिद्धों एवं जैन मुनियों ने भी किया है। 'आदि ग्रन्थ' के अन्तर्गत साखियों को 'सलोक' भी कहा गया है जो कदाचित् उपर्युक्त श्लोकों की भाँति उनके छोटी और प्रसिद्ध होने के ही कारण है।

---

१. 'साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहिनी उपखान'। 'तुलसी ग्रंथावली'-(का० ना० प्र० सभा, तृतीय संस्करण), पृ० १५१।

२. जैलो सजन सकारें जायेंगे, नैन मरेंगे रोय। विधना ऐसी रैनकर, भोर कभी ना होय॥—बूअली कलंदर (पृ० सं० १३८०)।

३. दे० 'गोरख बाणी' पृ० १-८३।

कबीर साहब के अनन्तर सन्तों ने रमैनियों की रचना बहुत कम की है,[1] किन्तु साखियों के विषय में हम ऐसा नहीं कह सकते। साखियाँ प्रायः सभी सन्त कवियों ने रची हैं और जिनकी ऐसी रचनाएँ अधिक संख्या में उपलब्ध हैं वे अंगबद्ध भी दीख पड़ती है। साखियों को, अंगों के अन्तर्गत वर्गीकरण करके, लाने की परम्परा कब से चली इसका ठीक पता नहीं चलता। 'आदि ग्रन्थ' में संगृहीत सलोकों का ऐसा विभाजन नहीं किया गया है और 'कबीर बीजक' की भी साखियों का ऐसा कोई वर्गीकरण नहीं है। परन्तु 'कबीर-ग्रन्थावली' में ऐसा अंगबद्ध संग्रह अवश्य मिलता है और यदि उसकी आधारभूत हस्तलिखित प्रति सचमुच सं० १५६१ की हो तो, इस परम्परा को पर्याप्त पुरानी भी ठहरा सकते हैं। परन्तु इस विजय में अभी तक मतभेद की गुन्जाइश है। वास्तव में अंगों के अनुसार किया गया साखियों का सर्वप्रथम प्रामाणिक वर्गीकरण सन्त रज्जब जी द्वारा सम्पादित 'दादूदयाल की वाणी' वाली साखियों का ही कहा जा सकता है जिसे उन्होंने 'अंगवन्धू' नाम भी दिया था। कहते हैं कि सन्त दादूदयाल की साखियों का जो इसके पूर्व किया गया संग्रह मिलता है उसमें अंगों का उल्लेख नहीं है। वह नैराणाँ में भी आज तक सुरक्षित है। पता नहीं सन्त रज्जब जी का, इसके लिए, कोई निश्चित आदर्श था अथवा उन्होंने इसे स्वयं अपने बिचार से ही आरम्भ किया। पीछे यह परम्परा इतनी लोकप्रिय बन गई कि, लगभग इसी के आधार पर, लोगों ने साखियों के अतिरिक्त, पदों, अरिलों, रेखतों, झूलनों, आदि अन्य प्रकार के छन्दों का काव्य प्रकारों की रचनाओं का भी वर्गीकरण आरम्भ कर दिया। 'अंग' शब्द से अभिप्राय कभी-कभी शरीर के अंगों का समझा जाता है क्योंकि 'साखी' स्वयं साक्षी गुरुदेव का ही स्वरूप है। परन्तु कबीर साहब ने 'अंग' शब्द का प्रयोग, एक साखी में 'लक्षण' के लिए भी किया है जो इस सम्बन्ध में कहीं अधिक

---

१. केवल गरीब दास आदि एकाध ही संत ऐसे मिलेंगे। दे० गरीबदासजी की बानी (वे०प्रे०) पृ० १३६-४३।

उपयुक्त ठहरता है।

८. अरिल्ल आदि

ऊपर जिस अरिल्ल का नाम लिया गया है वह अपभ्रंश का एक छन्द है। उसके नामसाम्य का एक छन्द हिन्दी में भी है। इस छन्द का नाम 'अरिल' दिया गया मिलता है, किन्तु सन्त तुलसी साहब ने इसे 'आरिमल' भी कहा है। इसके चार चरण होते हैं और चारों में २१ मात्राएँ रहा करती हैं, किन्तु चौथे के पहले 'परिहाँ', 'हरिहाँ', 'अरेहाँरे' जैसे शब्दों के भी प्रयोग कर दिए गए मिलते हैं।[2] सन्त तुलसी साहब ने इस छन्द के चारों चरणों में २१ की जगह २४ मात्राओं का प्रयोग किया है। इस छन्द का विशेष रूप से प्रयोग करने वालों में वाजिन्द जी गरीबदास, पलटू साहब, रज्जब जी आदि सन्त कवियों के नाम लिए जा सकते हैं। इसी के समान कुछ सन्तों ने प्रसिद्ध छन्द कुन्डलियाँ व छप्पय तथा सवैया और कवि के भी प्रयोग किए हैं। कुन्डलियों में किसी एक दोहे से आरम्भ करके उसमें रोला छन्द भी जोड़ देते हैं, जिसका प्रथम अंश उस दोहे के चतुर्थ चरण की द्विरुक्तिमात्र ही रहा करता है। इस छन्द का प्रयोग सन्त पलटू साहब ने बड़ी सफलता के साथ किया है और उनके कुंडलिए कदाचित् किसी भी कवि की ऐसी रचनाओं से अधिक सुन्दर और टकसाली कहे जाने योग्य हैं तथा इनकी संख्या भी बहुत अधिक है।[3] सन्त पलटू साहब के झूलने भी प्रसिद्ध हैं। उनकी ऐसी रचनाओं को विविध अंगों में विभाजित करके संगृहीत किया गया मिलता है। छप्पय का प्रयोग सन्त भीवजन की 'बावनी'

---

१. निखेरी निह कामना, सांईसेती नेह।

विषियासूं न्यारा रहै संतनि काअंग एह ॥ १ ॥–क० ग्रं० पृ० ५०।

२. 'अरिल' को 'छंद' की जगह केवल 'काव्यप्रकार' भी कहा जाय तो अधिक अच्छा। ले०।

३. 'पलटूसाहब की बानी' (वे० प्रे०) भा. १ पृ० १–११६।

नामक रचना में बड़ी सफलता के साथ किया गया मिलता है और उसी प्रकार सवैयों के लिए सुन्दरदास प्रसिद्ध हैं। सन्त सुन्दरदास के अतिरिक्त गरीबदास, छीतरदास और तुलसी साहब के भी नाम इस सम्बन्ध में लिए जा सकते हैं। परन्तु सुन्दरदास के सवैये उसी प्रकार बेजोड़ जान पड़ते हैं जैसे पलटू साहब के कुन्डलिए हैं। पलटू साहब के कवित्त भी बहुत अच्छे हैं, किन्तु इस विषय में उनके एक प्रतिद्वन्दी सन्त कवि रज्जबजी भी कहला सकते हैं जिनकी ऐसी मनोहर एवं सफल रचनाओं को उनके संवादकों ने भ्रमवश सवैया नाम दे दिया है। उन्होंने, इसी प्रकार उनके छप्पयों को भी कवित्त कह डाला है। सुन्दरदास एवं तुलसी साहब ने बरवै छन्द का भी प्रयोग किया है।

९. फ़ारसी बहर

सन्त कवियों ने कतिपय ऐसे छन्दों के भी प्रयोग किए हैं जो फ़ारसी एवं उर्दू साहित्य में प्रसिद्ध हैं ऐसे छन्द विशेषकर विक्रम की १८वीं शताब्दी से अधिक अपनाए जाने लगे। इन छन्दों में सब से अधिक लोकप्रिय 'रेखता' रहा। इस 'रेखता' शब्द का प्रयोग किसी समय ऐसी भाषा के लिए हुआ करता था जो मिश्रित रहा करती थी। उर्दू साहित्य का इतिहास लिखने वालों ने इसे अधिकतर इसी अर्थ में लिया है और इसे उर्दू काव्य का एक पर्याय तक स्वीकार किया है।[1] किन्तु इस शब्द का अभिप्राय कभी-कभी गाने से भी समझा जाता रहा और सन्तों ने कदाचित्, इसी अर्थ में इसका प्रयोग किया है। ऐसी दशा में 'रेखता' को भी हम 'झूलना' और 'अरिल' की भाँति एक प्रकार का काव्य-प्रकार कहना ही अधिक युक्तिसंगत मानेंगे। पलटू साहेब 'रेखता' की रचना में भी बहुत

१. 'पंजाब में उर्दू' (मुहम्मद खांशिरानी, लाहौर) पृ० २८–३६। किन्तु हिन्दी कवियों ने इस नाम के छन्द का प्रयोग केवल "मफ़ऊल फायलातुन, मफ़ऊल फायलातुन" की ही वज़न में नहीं किया है जैसा शीरानी साहब ने समझाया। ले०

निपुण जान पड़ते हैं। उनके ६६ रेखते, अंगों में विभाजित करके प्रकाशित हो चुके हैं।[1] रेखते की पंक्तियों की, यदि मात्रा गणना के अनुसार, परीक्षा की जाए तो उसमें २०×१७ मात्राओं का एक चरण पाया जाएगा। पलटू साहब के रेखते इसी नियम के अनुसार निर्मित हैं और तुलसी साहब के भी पहले २५ रेखते उसी प्रकार के हैं[2]। परन्तु इनके दूसरे रेखता-संग्रह में से प्रथम १२ ऐसे हैं जिनमें १४+१४ का क्रम चलता है और शेष १२ में से प्रथम तीन एक-दूसरे ही ढंग के हैं और नव पदों जैसे हैं।[3]

तुलसी साहब ने 'ग़ज़ल' नाम की भी कुछ कविताएँ की हैं, किन्तु वे फ़ारसी वा उर्दू की ग़ज़लों से ठीक-ठीक वही मिलतीं। उर्दू की ग़ज़लें कई बहरों के अनुसार रची जाती हैं और उनके कहने का तर्ज़ भी भिन्न-भिन्न है[4]। तुलसी साहब ने उनमें से किसी का यथावत् अनुसरण नहीं किया है। मात्रागणना के आधार पर यदि विचार किया जाए तो भी उनके पद्यों की सभी पंक्तियों में पूरा मेल नहीं दीखता। ग़ज़लों की एक विशेषता यह भी देखी जाती है कि उनकी अन्तवाली तुकें मिलती हैं, यद्यपि ऐसे सभी पद्यों का विषय ठीक एक ही हो, यह सम्भव नहीं। सन्त तुलसीदास की ग़ज़लों में यह बात भी सर्वत्र नहीं पायी जाती। सन्त तुलसीदास ने कुछ बैतें भी लिखी हैं जो नये ढंग की हैं और जो ग़रीबदास की बैत नामक रचनाओं से भी भिन्न हैं।[5] फ़ारसी की परिभाषा के अनुसार 'बैत' एक प्रकार की द्विपदी रचना है जिसकी दोनों अर्द्धालियों की बनावट में सुसंगति रहती है और उनमें से प्रत्येक को 'मिस्रा' भी कहा जाता है। किन्तु सन्त तुलसी साहब की रचनाओं में हम इस नियम की भी पूरी पाबन्दी नहीं

---

१. पलटू साहिब भा० २, पृ० १-४६।

२. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० १, पृ० ६-१६

३. वही पृ० ६०-८३।

४. वही, पृ० १६-२४।

५. 'गरीबदास जी की बानी' (वे. प्रे.) पृ० १३४—६।

देखते। सन्त गरीबदास की बैतें तो साधारण पदों के रूप में भी निर्मित कर दी गई जान पड़ती हैं और उनके केवल कतिपय शब्दों में ही कुछ विशेषता पायी जाती है। उन्होंने अपने ऐसे पदों में अरबी, फ़ारसी, पंजाबी आदि के कुछ शब्दों के प्रयोग किए हैं। इनके बैत नाम पड़ने का कोई कारण नहीं जान पड़ता। सन्त तुलसी साहब ने 'पश्तो' नाम के भी किसी एक छन्द वा काव्य-प्रकार के प्रयोग किए हैं। इसके केवल छः पद्य हैं जो पदों के रूप में हैं[1]। इनमें से पहले, चौथे एवं पाँचवें पदों में तो 'टेक' लगी हुई है और उसकी पंक्ति को आगे की पंक्तियों से पृथक् भी गिना गया है। किन्तु शेष तीन में यह बात नहीं दीख पड़ती और इन सभी पदों की पंक्तियों के कहने का तर्ज़ भी उर्दू की बहरों जैसा है। सन्त तुलसी साहब ने, जान पड़ता है इसका किसी गाने के रूप में ही प्रयोग किया है और इसीलिए इसमें टेक भी लगी है। इस सन्त कवि की एक रचना 'लावनी' नाम से भी आई है और यह भी गाने की ही वस्तु कही जा सकती है[2]। इस लावनी में भी इन्होंने 'टेक' पदों जैसी ही दी है। वास्तव में इस कवि ने अपने पदों को रागों अथवा गानों के अनुसार गेय बना देने की चेष्टा अन्य सन्तों से अधिक मात्रा में की है और इसी कारण, इसकी रचनाओं में हमें ठुमरी, तिल्लाना, ख्याल, धमार, लटका जैसे चलते गानों के भी उदाहरण मिलते हैं।

१०. प्रबन्ध काव्य

सन्त कवियों की रचनाओं पर इस प्रकार किए गए एक साधारण विहंगावलोकन से भी पता चल सकता है कि इनकी वास्तविक प्रवृत्ति क्या रही होगी तथा ये अपनी कृतियों का उपयोग किस रूप में करना चाहते होंगे। जैसा इसके पहले भी कहा जा चुका है इनकी रचनाओं में या तो

---

१ 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा० १, पृ० ८३-५।

२ वही, पृ० ५८-६०।

अपने स्वानुभूतिपरक भावों की अभिव्यक्ति की प्रचुरता है अथवा उसी से सम्बन्ध रखने वाले उपदेश हैं, जो कभी-कभी चेतावनी और आलोचना के साथ भी आया करते हैं। इनके यहाँ किसी बात को जम कर कहने अथवा किसी सिद्धान्त विशेष की व्याख्या करने की पद्धति नहीं पायी जाती। इसीलिए इनके यहाँ या तो पदों के ही भिन्न-भिन्न रूप मिलेंगे अथवा साखियों द्वारा दिए गए उपदेशों की ही प्रचुरता दीख पड़ेगी जिनके माध्यम के लिए इन्होंने दोहा, सोरठा, गीता, जैसे छन्दों के प्रयोग किए हैं। इनके यहाँ निर्बन्ध, और अधिक से अधिक निबन्ध, कोटि की ही रचनाओं का पाया जाना सम्भव है और प्रबन्ध काव्य वाली रचनाएँ नहीं के बराबर हैं। इनकी रचनाओं की एक विशेषता इस बात में भी लक्षित होती है कि इन्होंने विभिन्न रचना शैलियों में समन्वय ला दिया है और इनकी इस प्रवृत्ति के कारण उनमें कहीं-कहीं न केवल छन्द सम्बन्ध नियमानुसार अपितु संगीत की दृष्टि से भी, अनेक भयंकर भूलें आ गई हैं। सन्तों का अधिकतर अशिक्षित रहना, उनका रचनाशैली से कहीं अधिक वर्ण्य विषय की ओर ही ध्यान देना तथा उनका अपनी बातों का प्रचार विशेषकर ऐसे समाज में ही करना जो शास्त्रीय पद्धतियों से अनभिज्ञ था उसके लिए अन्य कारण कहे जा सकते हैं।

परन्तु सन्त-साहित्य के अन्तर्गत प्रबन्ध काव्यों का भी सर्वथा अभाव नहीं कहा जा सकता। बहुत सी ऐसी सांप्रदायिक रचनाएँ मिल सकती हैं जिनमें पौराणिक शैली में चरितों और सृष्टि कथाओं का वर्णन किया गया है तथा जिनके लिए, इसी कारण, उसके कवियों को किसी न किसी रूप में प्रबन्ध कल्पना करनी पड़ गई है। इसके सिवा अब तक के अनुसन्धान में कम से कम दो ऐसी प्रेमगाथाएँ भी मिल गई हैं जिनकी गणना प्रबन्ध काव्यों में की जा सकती है। इनमें से एक बाबा धरणीदास की रचना 'प्रेम-प्रगास' है और दूसरी 'पुहुपावती' है, जिसके रचयिता सन्त दुखहरण हैं।[1]

---

१. ये दोनों रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित हैं और हस्तलिखित रूप में ही हैं।

ये दोनों प्रेमगाथाएँ सूफ़ियों की प्रेमगाथाओं से कई बातों में भिन्न हैं और ये सन्त मत के सिद्धान्तों तथा साधनाओं की ओर निर्देश करती भी प्रतीत होती हैं, जिससे इनके महत्व के विषय में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इनकी रचना करते समय कहीं-कहीं इनके रूपकात्मक होने के विषय में संकेत कर दिया गया भी जान पड़ता है; किन्तु वे सूफ़ियों के जैसे नहीं हैं। इसके अतिरिक्त इनमें वर्णित प्रेम साधना की चरम परिणति उस दशा में ही होती जान पड़ती है जो सन्तों की साधनाओं की भी आदर्श है। हो सकता है कि इन रचनाओं के लिए कवियों को सूफ़ी प्रेमगाथाओं से ही प्रेरणा मिली हो; किन्तु इस बात में भी सन्देह नहीं कि उन्होंने इनमें कुछ विलक्षणता लाने का भी प्रयत्न किया है। ये दोनों प्रेमगाथाएँ जैन कवियों की धार्मिक प्रेमकथाओं तथा उपमिति कथाओं से भी इस बात में भिन्न हैं कि इनमें न तो किसी मत की श्रेष्ठता का प्रतिपादन है और न प्रतीकों के ही प्रयोग हैं।

(ग.) मंगल

सन्त-साहित्य के अन्तर्गत एक विशिष्ट प्रकार की रचना का नाम 'मंगल' किया गया भी मिलता है, जिसमें पौराणिक बातें रहती हैं। 'कबीर बीजक' के किसी संस्करण में एक रचना 'आदि मंगल' के नाम से आती है, जिसका विषय यही है। उसके २५वें दोहे में स्पष्ट रूप से कह दिया गया है "मंगल उतपति आदि का सुनियो सन्त सुजान"[1] और उसमें सृष्टि की उत्पत्ति की कथा आई है। ऐसे मंगल-काव्यों का पता बंगला साहित्य के इतिहास में भी चलता है, जहाँ किसी देवता का महत्व प्रतिपादन भी रहता है। वास्तव में यह एक लोक-साहित्य की परम्परा का ही कोई अवशिष्ट अंश है, जिस पर पौराणिकता की पालिश की गई है। इसमें कोई देवता केवल प्रमुख अवलंबन बन कर दीख पड़ता है, वर्णन का

---

१. आदि मंगल (कबीर बीजक) नवल किशोर प्रेस लखनऊ १६२६, पृ० २०।

विषय प्रधानतः लौकिक चरित्र और व्यवहार बन जाया करते हैं। कहते हैं कि 'मंगल' शब्द का मूल सम्बन्ध मलयालम भाषा के 'मंगल्यम्' शब्द से है, जिसका अर्थ 'विवाह' है। उत्तरी भारत के अनेक पूर्वी जिलों के लोग आज भी विवाह के उपलक्ष में गाए जाने वाले गीतों को 'मंगल' का नाम देते हैं। गो० तुलसीदास ने तो 'जानकी-मंगल' एवं 'पार्वती-मंगल' नामक दो ऐसे काव्यों की भी रचना की है जिनमें विवाहों की ही चर्चा है। श्री आशुतोष भट्टाचार्य नामक एक लेखक का यह भी कहना है कि काशी के प्रसिद्ध 'बुढवा-मंगल' उत्सव का भी सम्बन्ध बुड्ढे शिव के साथ पार्वती के विवाहोत्सव से ही है तथा मंगल शब्द द्रविड़ भाषा का है[1]। इस लेखक के अनुसार मंगल काव्य का उद्भव ईसवी सन् की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में हुआ और अठारहवीं में इसकी रचना के लिए 'ऐश्वर्य युग' था। ऐसी दशा में यह सम्भव है कि उसका प्रभाव इधर के सन्तों की रचनाओं पर भी कुछ पड़ा हो। हो सकता है कि उन्हीं दिनों कई उक्त 'आदि मंगल' की भी रचना हुई हो जब इस प्रकार का काव्य प्रकार केवल विवाह के ही विषय तक सीमित न रह कर देवता विशेष का महत्व प्रतिष्ठित करने में भी प्रयुक्त होने लगा था तथा इस बात ने कबीर पन्थियों का भी ध्यान आकृष्ट कर लिया था। यह भी उल्लेखनीय है कि सन्तों ने वैसी वर्णनात्मक रचनाएँ नहीं लिखीं। उन्होंने या तो 'राग मंगल' का पूरा नाम ले कर ऐसी रचनाएँ की अथवा बिना 'मंगल' शब्द के साथ 'राग' को जोड़े हुए उसके शीर्षक में ऐसे पद बनाए। उदाहरण के लिए जहां सन्त गरीबदास ने 'राग मंगल' का शीर्षक दिया है[2] वहाँ सन्त गुलाल साहब तथा सन्त तुलसी साहब ने उसे केवल 'मंगल' ही नाम दिया है[3]। पहले एवं तीसरे सन्तों

---

१. बङ्गला मङ्गल काव्येर इतिहास' (कलकत्ता, १३५७ बं०) पृ० ४६-७।

२. 'गरीबदास की बानी' पृ० १६०।

३. 'तुलसी साहब की शब्दावली' भा १ पृ० ६०३ और 'गुलाल साहब की बानी' पृ० ११६।

की वानियाँ 'अरिल की तर्ज का पूरा अनुसरण करती हैं और उनका विषय भेद ज्ञान' है, किन्तु दूसरे सन्त के पाँच पदों में से प्रथम और तृतीय की तर्ज़ तो वही है, किन्तु विषय वैवाहिक हैं और शेष तीन का विषय भेद-ज्ञान है, किन्तु तर्ज़ वह नहीं है।

घ. उलट बाँस

सन्त-साहित्य के विषय में चर्चा करते समय उसमें आई हुई उलट-बासियों का उल्लेख न करना अनुचित कहा जाएगा। उलटवासियों को हम काव्य प्रकारों में सम्मिलित नहीं कर सकते। वे एक विशिष्ट रचनाशैली के उदाहरण में दी जा सकती हैं। उलटवासियों का परिचय देते समय हमें यह भी जान लेना चाहिए कि वे किसी विभावना जैसे अलंकार को उदाहृत नहीं करतीं और न किसी ऐसी काव्य-रचनाशैली के ही उदाहरण में दी जा सकती हैं जिसमें व्यर्थ का बतंगड़ बना दिया गया हो। इनमें बातें केवल प्रत्यक्षतः ऊटपटाँग जान पड़ती हैं, किन्तु यदि उनमें प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों का गूढ़ अभिप्राय किसी प्रकार समझ लिया जा सके तो सारा भेद खुल जाने पर, कवि का भाव पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। उलटवासियों की रचना का उद्देश्य केवल विस्मय वा कौतूहल उत्पन्न करना नहीं, प्रत्युत पूरे मनोयोगपूर्वक गूढ़ रहस्यों से परिचित हो जाना है। उलटवासी शब्द की ठीक व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता और न यही पता चलता है कि इसका प्रचलन किस समय से हुआ होगा। गुरु गोरखनाथ ने उलटवासी के लिए 'उलटी चर्चा' शब्द का प्रयोग किया है और सन्त सुन्दरदास ने इसे 'विपर्यय' भी कहा है जिससे कहा जा सकता है कि ऐसी रचना का प्रमुख उद्देश्य किसी बात का विपरीत या असाधारण कथन के द्वारा वर्णन करना है। ऐसी दशा में उलटवासी का तात्पर्य उस रचना से होगा जिसके किसी न किसी अंश (उलटा×अंश) में उलटी बातें आ गई प्रतीत होती हैं। इसके वास्तविक अभिप्राय को समझने का आधार यह बात भी हो सकती है कि यह शब्द पहले 'उलटवासी' मात्र

था। इसके 'वासी' अंश पर कोई अनुस्वार नहीं था और यह किसी 'उलट-वास' शब्द से बना था जो 'बकवास' और 'लोटवास' की भाँति व्यर्थ की उलट पुलट सूचित करने वाले उदाहरणों से भरी रचना को सूचित करता था।

ऐसे ऊटपटाँग ढंग से कथन करने की शैली का इतिहास बहुत पुराना है। इसके उदाहरण वैदिक साहित्य तक में मिलते हैं और इसकी लोकप्रियता बौद्धों एवं नाथों के साहित्य तक भी आकर कम नहीं होती। 'ऋग्वेद' में आता है "इस बैल के चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं और यह तीन प्रकार से बँधा हुआ उच्च शब्द करता है।"[1] इसी प्रकार 'अथर्ववेद' में एक स्थल पर कहा गया है : "हे विद्वन्, जो भी इस सुन्दर एवं गतिशील पक्षी के भीतर निहित रूप को जानता हो वह बतलावे, इसकी इन्द्रियाँ अपने शिरोभाग से क्षीर प्रदान करती हैं और अपने चरणों द्वारा जल पिया करती हैं।"[2] और 'ईशोपनिषद्' में भी आया है "वह ठहरा हुआ भी अन्य दौड़ने वालों से आगे चला जाता है।"[3] बौद्ध धर्म के मान्य ग्रन्थ 'धम्मपद' में दिया गया है: "माता-पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचर सहित राष्ट्र को नष्ट करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है"[4] तथा सिद्ध कण्हपा ने कहा है "घर में अपनी सास ननद एवं साली की हत्या करके तथा माँ को भी मार कर मैं कण्हपा कपाली हो गया।"[5] इसके सिवाय

---

१. "चत्वारि शृंगास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोअस्य त्रिधाबद्धो वृषभो रोरवीति। (३-४-५८-३)।

२. "इह ब्रवीतु य इमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वे। शीर्ष्णः क्षीरे दुहते गावो, अस्य वंव्रिबसाना उदकं पदायुः" (६-६-५)।

३. "तद्धावतोऽन्यानत्येतितिष्ठत्" (मं. ४)।

४. "मातरं पितरं हन्त्वा राजानो द्वेच खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा अनिघो याति ब्राह्मणो।" (पकिण्णवग्गो, ६)

५. "मारिशासु नणन्द घरेसाली।
माअ मारिआ कान्ह भइल कपाली।" (चर्यापद ११)।

'गोरखबानी' में कहा गया है : "चींटी की आँखों में गजेन्द्र प्रवेश कर जाता है गाय; के मुख में वाघिन ब्याती है और बारह वर्ष की अवस्था में बाँझ प्रसव करके निकम्मी हो जाती है[1]", तथा गरीबनाथ ने कहा है : "पाताल की मेंढकी आकाश में पहुँच कर यन्त्र बजाती है और जिस जगह पर सूर्य एवं चन्द्रमा का मिलन होता है वहाँ गंगा एवं यमुना गीत गाती हैं।[2]" इत्यादि जिन्हें सुन कर हम आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

संतों की उलटवासियाँ इस प्रकार के कथनों से भिन्न नहीं और कई तो ऐसी भी हैं जो उनके अनुकरण में रची गई सी लगती हैं। ऐसी रचनाओं की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि इनके भीतर निहित भाव में किसी प्रकार का गोल माल नहीं है। केवल कथन-शैली में कुछ अटपटापन जान बूझ कर ला दिया गया है जिससे सुननेवालों का ध्यान इनकी ओर आकृष्ट हो, इनमें निहित भेद को जानने के लिए उनकी उत्सुकता बढ़े तथा उससे परिचय पाकर वे लाभान्वित हों। तांत्रिक ग्रन्थों के रचयिता इनके प्रयोग बहुधा इसलिए भी किया करते थे कि इन्हें सुनकर केवल वे ही रहस्य को जान सकें जो इनके संकेतों से अभिज्ञ हों और इसी कारण, जो उनके संप्रदाय में दीक्षित हों, दूसरों के प्रति उनकी बातें प्रकट न होने पाएँ और गुप्त रह जाएँ। इसी धारणा के अनुसार कुछ विद्वानों ने इस प्रकार की रचनाओं में प्रयुक्त विशिष्ट भाषा वा शैली को 'संध्या भाषा' कहा है जिसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार संध्या काल में प्रकाश एवं अंधकार दोनों का मिलन रहा करता है, उसी प्रकार इसकी कुछ बातें प्रकट तथा अन्य गुप्त रहा करती हैं। पन्तु, इस 'आलो आंधारी भाषा' पदक अर्थक को उचित न मानते हुए. स्व० विधुशेखर भट्टाचार्य ने यह बतलाया है कि वह शब्द ही

---

१. "चींटी केरानेत्र मैं गज्येन्द्र समाइला, गावकी के मुष मैं बाधला विवाइला।" पद ३४ (पृ० १२६)।

२. "पताल की मीडकी यन्त्र बावै। चंद सूरज मिलै तहां गंग जमुन गीत गावै।" (ना० प्र० पत्रिका, भा० ११, अं० ४, पृ० ४०२)।

'संध्या भाषा' न हो कर 'संधा भाषा' है कि जिसका अभिप्राय ऐसी भाषा के प्रयोग से है जिसके "शब्दों द्वारा व्यक्त अभिधार्थ से नितांत भिन्न आशय का बोध कराना अभीष्ट रहता है।"[१] और इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्होंने कई प्रमाण भी उद्धृत किए हैं। इस प्रकार की रचनाओं को 'आभिप्रायिक वा नेयार्थ वचन' कहना ही अधिक युक्ति-संगत हो सकता है। इसी कारण डा० शशिभूषण दास गुप्त ने अनुमान किया है 'संध्या भाषा' शब्द वस्तुतः 'संधा भाषा के ही रूप में रहा होगा, किन्तु, तांत्रिकों की भाषा के अधिकतर पारिभाषिक एवं रहस्यमयी होने के कारण, उसे समय पाकर उक्त दूसरा रूप भी दे दिया गया जो इसकी अस्पष्टता का भी सूचक है।[२] उलटवासियों को समझने के लिए केवल पारिभाषिक शब्दों का ज्ञान ही उतना आवश्यक नहीं होता। शब्दों में बहुधा एक ही शब्द के अनेक अर्थ दिये गए मिलते हैं जिनके अनुसार विचार करते समय पूरे मतभेद की की गुंजाइश रहा करती हैं इसी कारण उलटवासियों के प्रमुख टीकाकारों में भी पारस्परिक मतैक्य नहीं दीख पड़ता। स्वयं कबीर साहब की उलटवासियों का अर्थ करते समय जहां पूरन साहब जैसे टीकाकारों ने अपना सांप्रदायिक मनोवृत्ति का परिचय दिया है वहां महाराज विश्वनाथ सिंह ने उनमें सगुण वाद परक अर्थ ढूंढने की चेष्टा की है। कुछ लोग कभी-कभी उनमें शास्त्रीयता की गंध तक पाने लगते हैं। संत सुन्दरदास की 'विपर्यय' कही जाने वाली रचनाओं के भी विषय में बहुत कुछ यही बात हमारे देखने में आती है। ऐसे पद्यों का अर्थ करते समय हमारे सामने एक और भी कठिनाई इस बात की आजाती है कि हम उनमें 'बूझहु' 'विचारे'

---

१. It is intended to imply or suggest something different from what is expressed by the words"—Indian Historical quarterly, 1928 pp. 293-4.

२. Dr. S. Das Gupta : Obsense Religious Cults(Calcutta) pp. 478.

जो या पद का अर्थ लगावै सोइ गुरू हौं चेला' 'या निरबारहु पंडित लोई' आदि के प्रयोग देख कर उन्हें प्रायः पहेलियों जैसा समझ लेते हैं। कभी-कभी तो उनके शब्दों को द्व्यर्थक बनते देख कर हमें उन्हें दृष्टि-कूट तक समझ लेने की प्रवृत्ति हो जाती है। परन्तु यह ठीक नहीं। पहेलियों तथा दृष्टि-कूटों में भी कोई ऐसा कथन अवश्य आता है जो उलटवासियों की भांति कुछ ओर का ओर प्रकट करता जान पड़ता है। परन्तु पहेलियों का उद्देश्य जहाँ किसी की बुद्धि की परीक्षा लेना हो सकता है और, इसी प्रकार दृष्टि-कूटों का प्रयोग जहाँ, कवि प्रसिद्धियों की सहायता से, पांडित्य-प्रदर्शन के ही लिए हो सकता है वहाँ उलटवासियों की रचना दूसरों को आकृष्ट कर उन्हें सजग करने के लिए ही की जाती है जिससे वे उनके वर्ण्य विषय को समझ कर उन पर विचार करें अथवा उसके अनुसार साधनादि करें। संतों की रचनाओं में पहेलियों का आ जाना भी असंभव नहीं और 'कबीर बीजक' की भी कतिपय साखियों को हम वैसे ही रूप में पाते हैं।[1] किन्तु उलट-वासियाँ ऐसी रचनाओं से सर्वथा भिन्न हैं और उन्हें भली भाँति समझ पाने के लिए, तर्क से अधिक संत-मत एवं साधना का ज्ञान अपेक्षित है तथा यह भी आवश्यक है कि बाहरी भुलावे में न पड़ कर हम उनके मूल-सूत्र को पकड़ पाने का पहले प्रयत्न करें।

सन्तों के सामने सबसे बड़ी समस्या यह थी कि हम किस प्रकार गूढ़ से गूढ़ विषयों तक को सर्वसाधारण को समझा पाने में समर्थ हो सकें और इसीलिए कभी कभी उन्हें सर्वजनसुलभ प्रतीकों का सहारा लेना पड़ता था। वे, प्रतिदिन की अनुभव में आने योग्य बातों के सहारे अपना आशय प्रकट करने के लिए इन उलटवासियों में कुछ उलट फेर की चर्चा कर देते थे जिनके कारण स्तब्ध बन कर श्रोता उनके शब्दों के वाच्यार्थ की उलझनों से निकलने के प्रयत्न करने लगता था और उसकी जिज्ञासा के तीव्र बनते ही उसे संकेतों और सुझावों द्वारा वास्तविक रहस्य की ओर

---

१. उदाहरण के लिए साखी सं० ३६, १३० और १५० देखना चाहिए।

खींच लिया जाता था, जिससे परिचित होते ही वह आनन्द मग्न हो जाया करता था। सन्तों की जिन उलटबासियों में उनके 'सुरत शब्द योग' का वर्णन आता है अथवा जिनमें गहरी अनुभूतियों द्वारा उपलब्ध दशा का स्पष्टीकरण रहा करता है। उन्हें हम तब तक नहीं समझ सकते जब तक हमें वैसी बातों का कोई परिचय न हो। ऐसी बातों के कथन में कभी-कभी पारिभाषिक शब्दों की जानकारी न होने से भी उलझनों का अनुभव होने लगता है जिनसे निपटारा तभी हो पाता है जब कोई कुछ न कुछ सहायता कर देता है। कभी कभी तो हमारा काम यों भी निकल जाता है जब हमें इस बात का पता चल जाता है कि उनके रचयिताओं ने स्पष्टीकरण के लिए कौन-सा माध्यम चुना है। सभी सन्तों ने उलटबासियां नहीं रची हैं और जिन्होंने ऐसा किया है उनमें से कुछ ने ही मौलिक ढंग से उन्हें पूरा कर पाया है।

ङ. गद्य रूप

सन्त साहित्य के अन्तर्गत गद्य रचनाएँ बहुत कम पायी जाती हैं और जो मिलती हैं वे भी अधिकतर साम्प्रदायिक बातों से ही भरी हैं। यदि उनमें कोई कोई टीका अथवा भाष्य के रूप में पायी जाती हैं तो उनकी भी रचना-शैली विशुद्ध गद्य की कम रहा करती है। भाष्य अथवा टीका के लिखने की परम्परा बहुत पुरानी कही जा सकती है, किन्तु वह सदा गद्य-रचना को ही सूचित नहीं करती। उनमें प्रायः छोटे-छोटे तुकान्त वाक्य भी पाए जाते हैं जिन्हें हम गद्य नहीं कह सकते। हिन्दी गद्य के इतिहास का आरंभ अधिकतर विक्रम की १० वीं शताब्दी से किया जाता है, किन्तु ऐसी रचनाओं में सर्व प्रमुख वे समझी जाती हैं जो चौदहवीं शताब्दी की हैं। स्व० पं. रामचन्द्र जी शुक्ल ने सं० १४०० के ब्रजभाषा गद्य के नमूने में नाथ-पंथी योगियों की कुछ रचनाएँ दी हैं।[1] परन्तु सन्त-साहित्य के

---

१. रामचन्द्र शुक्ल : 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (का० ना० प्र० सभा, सं० १९८६) पृ० ४८०।

अन्तर्गत किसी दृष्टि से लायी जाने योग्य सर्व प्रथम रचना रामप्रसाद निरंजनी की ही हो सकती है जिसका नाम भाषा 'योग वासिष्ठ' है और जिसे स्वयं शुक्ल जी ने भी खड़ी बोली के परिमार्जित गद्य की सबसे पहली पुस्तक मानी है।[1] सन्तों ने कभी कभी अपने अपने सम्प्रदायों की नियमावलियों की रचना गद्य में ही की है और किसी मान्य ग्रन्थ की भूमिकादि लिखने में भी प्रायः गद्य का ही प्रयोग किया है। सन्त प्राणनाथ की रचना 'मारकत' के आदि एवं अन्त में भी केसोदास ने जो 'ग्रन्थ की हकीकत' लिखी है वह गद्य में ही है।[2] किन्तु उसको देखने से भी पता चलता है कि लेखक को आधुनिक शैली के गद्य की कोई कल्पना भी नहीं थी। आधुनिक युग के सन्तों में सन्त शिवदयाल सिंह (राधास्वामी) ने अपने 'सार वचन' ग्रन्थ का एक खण्ड गद्य में ही लिखा है और उनके ही पंथ वा सत्संग के स्व० महर्षि शिवव्रतलाल ने कदाचित् सबसे अधिक गद्य-ग्रन्थों की रचना की है। इधर के सन्तों के लिए तो गद्य स्वभावतः उनकी रचनाओं का माध्यम बन गया और वे विभिन्न प्रकार की रचना शैलियों को भी अपनाने लगे। इन्होंने कहानियां लिखीं, उपन्यास लिखे, निबन्धों की रचना की, नाटकों का निर्माण किया तथा पत्रकारिता के क्षेत्र में भी काम किया।

(५) उपसंहार

सन्त-साहित्य का रूप अभी आधुनिक समय तक केवल पद्यात्मक ही रहा है, गद्य का प्रवेश उसमें बहुत पीछे हुआ है। पद्यमय रचनाओं में भी अधिकांश फुटकर पद, साखियां, जैसी ही कृतियां दीख पड़ती हैं जो मुक्तकों की भाँति पृथक्-पृथक् आई हैं। दोहों, चौपाहियों अथवा अन्य कतिपय

---

१. दे० इस सम्बन्ध में डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय रचित 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) पृ० ४६ भी।

२. 'सम्मेलन पत्रिका' ( ), पृ० ७।

छन्दों में कुछ पद्य-संग्रह भी पाए जाते हैं जो अधिक से अधिक निबन्ध श्रेणी के हैं। प्रबंधमयी रचनाएँ जिनमें काव्य-शास्त्र के नियमों का अनुसरण किया गया हो, जिनमें कोई निश्चित कथानक हो, घटना-प्रवाह का सुव्यवस्थित क्रम हो, चरित्र चित्रण और विशिष्ट वर्णन पाए जा सकें यहाँ प्रायः नहीं के बराबर समझी जा सकती हैं। सन्त-साहित्य में सम्मिलित की जाने योग्य जो दो प्रेमगाथाएँ मिलती हैं केवल वे ही किसी प्रकार इसके अपवाद में दी जा सकती है अन्य ऐसी रचनाएँ जो साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखी गई हैं और जिनमें पौराणिकता की ही प्रचुरता है कम साहित्यिक मूल्य की हैं। वास्तव में यदि सन्त-साहित्य का मूल्यांकन विशुद्ध शास्त्रीय आधार पर किया जाए तो उसके केवल एक अल्पांश को ही हम किसी उच्च स्थान पर रखने का साहस कर सकते हैं और शेष को हमें बहुत निम्न स्तर तक लाना पड़ सकता है। किन्तु यदि काव्य-शास्त्र अथवा साहित्य-शास्त्र के आदर्शों पर विचार करते समय भी हम उनके उस अंश पर ही विशेष ध्यान न दें जो भाषा सौष्ठव अथवा रचना-शैली के सौन्दर्य से सम्बन्ध रखता है तो हमें कदाचित् अपना मत बदलना भी पड़ जाए। उस दशा में हमें जान पड़ेगा कि सन्तों की ऊबड़ खाबड़ भाषा तथा उनकी अटपटी रचना-पद्धति के पीछे इतना भाव गाम्भीर्य है, इतनी उदात्त भावना है और इतना उच्च आदर्श है जिसकी तुलना में बहुत कम अन्य साहित्य ठहर सकते हैं। सन्तों की रचनाओं में ऐसे उदाहरणों की कमी न होगी जो वन्य कुसुमों की भाँति अपना अलग सौन्दर्य रखते हैं। उनका अपना रूप है, अपना रंग है, अपनी गंध है और अपना ही विलक्षण आकर्षण है जिनसे एक बार भी प्रभावित हो जाने वाले उन पर बिक जा सकते हैं। कोरी रचना-शैली अथवा वर्णन-पटुता किसी को कुछ काल तक प्रभावित करके उसे मुग्ध कर सकती है और संभव है उसके कारण भाव सौन्दर्य की भी एक झलक हमारे सामने आ जाए किन्तु उसमें वह शक्ति कहाँ जो कायापलट कर दे सके! सन्त-साहित्य की रचना का सर्व प्रधान उद्देश्य यही रहता आया है और इसी कारण इसका आदर्श इतना भव्य और महान् है।

हमने देखा है कि इस प्रकार के साहित्य की परम्परा भी अत्यन्त प्राचीन है और वह हमें उपनिषदों का स्मरण दिलाती है। औपनिषदिक युग से लेकर इस सन्त-साहित्य के आरंभ काल तक अन्य कई प्रकार के ऐसे साहित्य निर्मित हुए हैं जिनमें से किसी में सुधारपरक आलोचना की प्रधानता है किसी में ज्ञान-योग की महत्ता प्रतिपादित की गई है, किसी में भक्ति साधना की ओर संकेत है तो किसी में जीवनोपयोगी नीति का उपदेश दिया गया है। इनमें से अधिकांश ऐसे हैं जिनमें विचार स्वातन्त्र्य को प्रश्रय दिया गया है और अन्धानुसरण को हेय ठहराते हुए, अपने आप उठ खड़े होने, अपना मार्ग ढूँढ निकालने तथा किसी उच्चतम आदर्श मात्र पर ही निर्भर होने का सर्वत्र उपदेश है। विश्व-कल्याण के साथ-साथ आत्म कल्याण का उद्देश्य अपने सामने रख कर जीवन यापन करने की सीख इन सभी प्रकार की रचनाओं द्वारा न्यूनाधिक मात्रा में मिल सकती है। सन्त-साहित्य अपने भीतर इन सभी का एक समन्वयात्मक रूप रखने की चेष्टा में निर्मित किया गया है। काव्य-रचना के उद्देश्यों में जो यश, अर्थलाभ, अनिष्ट की हानि, परनिर्वृत्ति तथा कांता के समान सम्मतिदान की गणना की जाती है उनमें से यहाँ केवल अनिष्ट की हानि और अंतिम अर्थात् सम्मतिदान की ही आशा की जा सकती है और वह भी ठीक उसी रूप में नहीं। सन्त कवियों को इनमें से कदाचित् किसी की भी कभी आकांक्षा नहीं रही। इस कारण हमने देखा है कि उन्होंने अपनी रचनाओं की बनावट सजावट के लिए कभी कोई चिन्ता नहीं की। न तो उन्होंने कभी किसी काव्य प्रकार के रूप की ओर ध्यान न देकर उसके अनुसार अपनी कृति को गढ़ने वा संवारने का प्रयत्न किया, न उसके लिए उपयुक्त छन्दों के चुनाव, उसकी भाषा की परीक्षा अथवा कथनशैली को संभालने को ही महत्व दिया। काव्यकला के पारखी उन्हें ऐसे दोषों के लिए कभी क्षम्य नहीं ठहरा सकते और न अपनी अभ्यस्त शैली में उनका कोई मूल्यांकन ही कर सकते हैं।

सन्त-साहित्य का वर्ण्य विषय भी ऐसा नहीं जिसे हम किसी रूढ़िगत

वस्तु तत्त्व के समक्ष बिठला सकें। शास्त्रीय परम्परा की दृष्टि से देखने पर हम सन्त-साहित्य के विषय को किसी भी प्रकार साहित्यिक नहीं ठहरा सकते। प्रश्न केवल यह नहीं कि वह धार्मिक लोगों का ही वर्ण्य विषय है। सगुणोपासक कवियों ने उसे भी अपनी रचनाओं का आधार बनाया है और कभी चरित वर्णन के नाते तो कभी कभी गुणगान के ही व्याज से उन्होंने उत्कृष्ट काव्य रच डाले हैं। सन्त साहित्य का विषय न केवल धार्मिक है अपितु वह निर्गुण और नीरस भी दीख पड़ता है। किन्तु क्या काव्य की सरसता केवल उसके विषय के सरस होने पर ही निर्भर है और कवि से उसका सम्बन्ध नहीं है? तथ्य तो ऐसा जान पड़ता है कि कोई भी कृति केवल तभी सच्चे काव्यत्व का गुण उपलब्ध कर सकती है जब उसमें उसके रचयिता के वास्तविक जीवन का रस निचोड़ कर सुरक्षित कर दिया गया हो—उसके उस क्षणिक जीवन का नहीं जो कभी आकस्मिक रूप में आता और फिर परिवर्तित हो जाता है, प्रत्युत वह शाश्वत अंश जो किसी व्यक्ति विशेष के ही सम्बन्ध में नहीं घटा करता जो उसकी मौलिक एवं तदनुसार व्यापक अनुभूतियों पर आश्रित है और इसी कारण सार्वभौम भी है। उसका तार जब किसी कवि हृदय में झंकृत होता है तो वह स्वभावतः किसी अन्य मानव हृदय को भी प्रभावित कर देता है।

सन्त-साहित्य के कवि वैष्णव भक्त थे इसमें कुछ भी संदेह नहीं। उन्हें सबसे अधिक अन्तःप्रेरणा कदाचित् वैष्णव धर्म से ही मिली थी और इस बात को वे कभी नहीं भूल सके। परन्तु जैसा हमने इन पृष्ठों में भी देखा है उनका वैष्णव धर्म कुछ और ढंग का था और उस ढंग की विचित्रता के ही कारण वे कभी वैष्णव नहीं कहे जाते। सन्तों के राम न तो गो० तुलसीदास के राम थे, न सूरदास के कृष्ण थे, न ज्ञानदेव के विठोबा थे और न गोदा के ही वे इष्टदेव थे जिन्हें उस भक्त कवयित्री ने अपने पति के रूप में स्वीकार किया था। वे किसी ईसाई व मुस्लिम साधक के भी साध्य नहीं थे और न वेदान्तियों अथवा योगियों के ब्रह्म ही थे। वे क्या थे इसे उन्होंने भी नहीं जाना। उन्होंने बार बार उन्हें अगम और अनिर्वचनीय

ठहराया तथा उन्हें शून्य तक कह डाला। परन्तु सच्ची बात तो यह है कि किसी अनुभूति वा वाणी की सीमा में न आ सकने के ही कारण वे अधिक से अधिक अपने थे। वे न केवल अपने थे, प्रत्युत स्वयं अपने आप थे। जिससे उनमें विश्वास न करना स्वयं अपने अस्तित्व में भी संदेह करने के समान था और यही उन सन्तों की सुदृढ़ आस्था और आस्तिकता की प्रमुख आधार शिला थी। सन्तों ने उनके विषय में कहते समय स्वयं अपने विषय में कहा और तदनुसार अपने एवं विश्व के कल्याण में अभेद ला दिया।